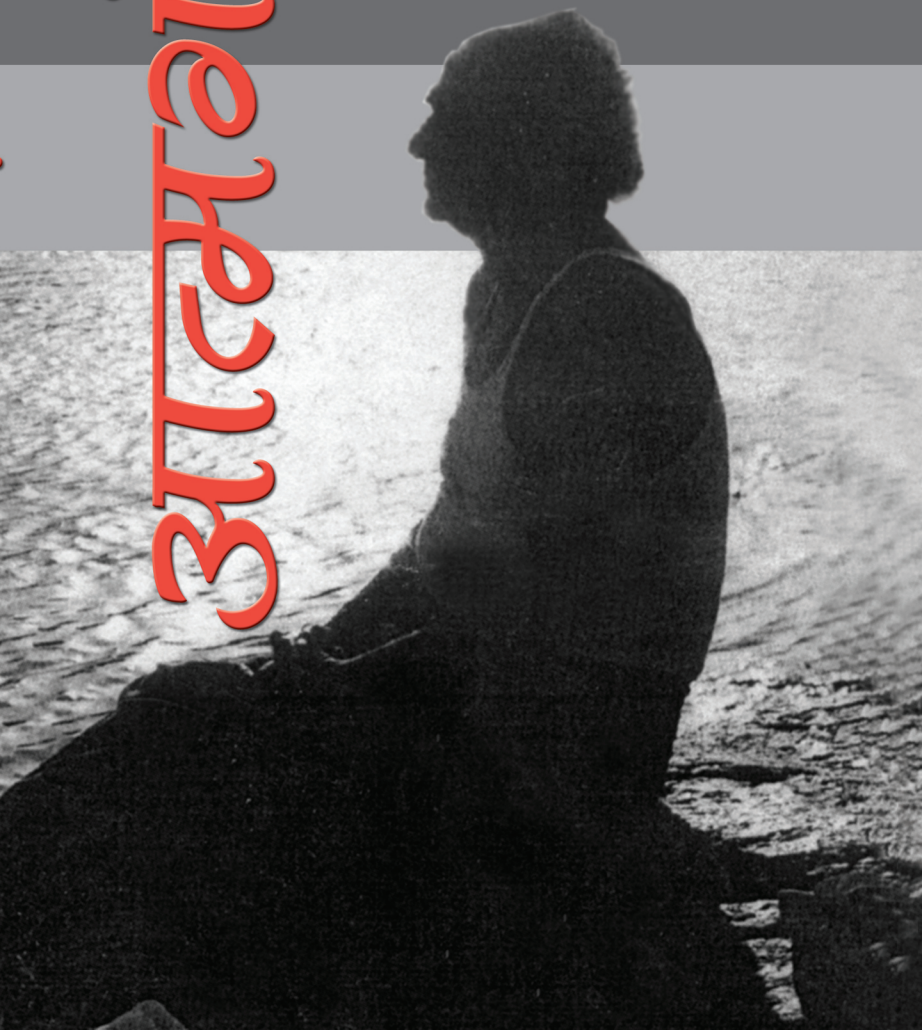


आत्मवांछ

केदारनाथ अग्रवाल



आत्मगंध

केदारनाथ अग्रवाल



साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

ISBN : 978-81-7779-192-3



प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072



लेखक

केदारनाथ अग्रवाल



स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल



संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009



आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल



अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

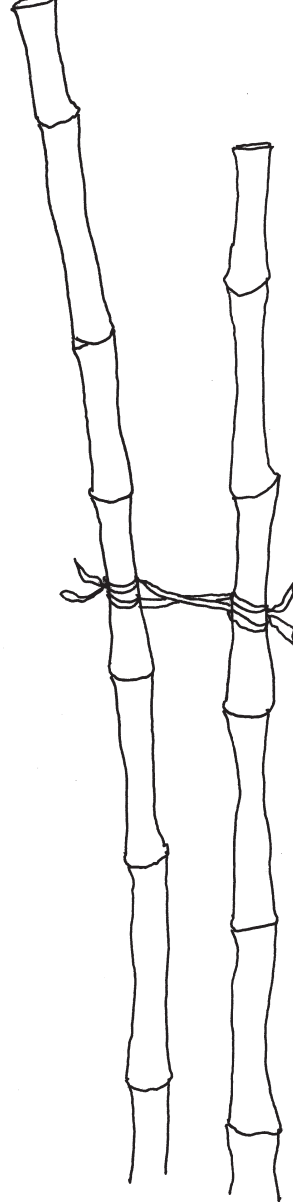


मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3



मूल्य : 250.00 रुपये मात्र

आत्मगंध



प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

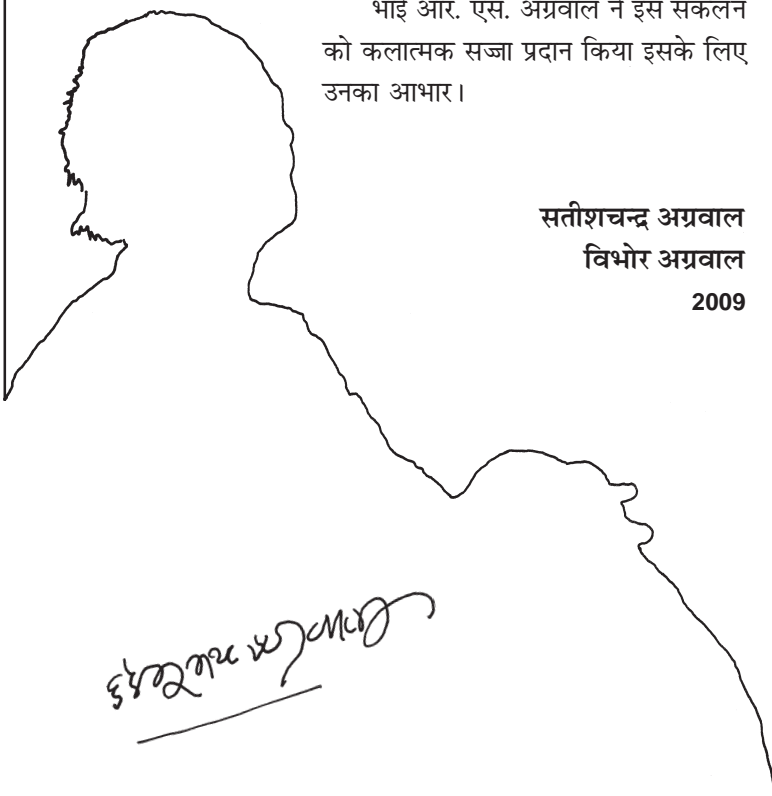
एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल

विभोर अग्रवाल

2009



इस संकलन के लिए
सतीशचन्द्र अग्रवाल

जाओ
लेकिन आत्मगंध
दे जाओ

भूमिका

इस संकलन की कविताएँ वैसी नहीं हैं जैसी अन्य संकलनों की कविताएँ हैं। ये कविताएँ मेरे दीर्घायु की कविताएँ हैं। अब तक मैंने जैसा जीवन जिया और भोगा है उसी के अनुरूप मेरी मानसिकता बनती चली आई है। ऐसी बात नहीं है कि मैंने जो जीवन जिया है वह तर्कहीन, विचारहीन व स्वतःस्फूर्त रहा है। मैंने अनपे विकास-क्रम में इस सत्य को बड़ी मजबूती से प्राप्त किया और पकड़ा है कि वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से अपनी भावनाओं और विचारों को बनाते रहना चाहिए। मैंने यह भी जाना और समझा है कि वह जीवन-दर्शन जो व्यक्ति को संसार से विरक्त कर, परमसत्ता में लीन करता और मोक्ष प्रदान करता है वह जीवन-दर्शन इस द्वन्द्वमय संसार के प्राणियों को यथास्थिति में बनाये रखता है और ऐसी स्थिति को तोड़ने का क्रम नहीं चालू करता। तभी तो, ऐसी स्थिति में, कोई विरला व्यक्ति ही, महापुरुष बन पाता है और संसार के अन्य प्राणी व निवासी निरन्तर वही-वही दुःख-द्वन्द्व झेलते-झेलते तड़पते और टूटते रहते हैं। मेरी अपनी धारणा यह है कि ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो समता, न्यायप्रियता और समान अवसर देने की क्षमता रखती हो और आदमी को इसी संसार में द्वन्द्व से मुक्त करने के लिए प्रतिबद्ध हो। तभी सच्चा लोकतंत्र होगा; तभी आदमी आदमी को प्यार करेगा; नर-नारी के सम्बन्ध प्रगाढ़ प्रेम से अटूट बनेंगे; और समाज तथा देश का कल्याण होगा। न कोई किसी का शोषण करेगा। न कोई किसी का क्रीतदास होगा। लोग जियेंगे और दूसरों को जीने देंगे। ऐसी ही सामाजिक व्यवस्था के स्थापित होने पर आदमी को अवकाश प्राप्त हो सकेगा। तभी वह अपनी आत्मोन्नति करता हुआ तरह-तरह की कलाओं को रुचि से अपना सकेगा। तभी काव्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला व वास्तुकला का परम प्रेरक उन्नयन होता चलेगा और समस्त वैयक्तिक निजता का अवसान होगा। तब मानवीय आत्मवत्ता,

एक की न होकर महान मानवीय मूल्यों की संस्थापक होगी और सांस्कृतिक चेतना का सार्थक विकास सम्भव होगा। न वह क्षेत्रीय होगी। न वह पारम्परिक होगी। न वह प्रान्तीय होगी। वह ऐसी वस्तुवत्ता से उपजी होगी जो मानवीयता को गौरव और गरिमा प्रदान करेगी। न धर्म अधर्म की ओर ले जा सकेगा, न रूढ़ियाँ होंगी, न रक्त-रंजित कर सकेंगी। न सैन्यवाद होगा, न संहार कर सकेगा। न न्यायालय अन्याय के घर हो सकेंगे। न व्यावसायिकता पूँजीवाद को अपनाये हुए जन-जीवन की उपेक्षा कर सकेगी।

मैं, इसीलिए अन्य कवियों से भिन्न प्रकार की रचनाओं का सृजन करता चला आया हूँ। प्रेम का जीवन जीने में सक्रिय योग होना चाहिए। लोग, अब, ऐसी स्थिति में पहुँच गये हैं जहाँ वे किसी को अपना प्रगाढ़ प्रेम नहीं दे पाते। मैं प्रेम की महत्ता को जानता हूँ। इसीलिए प्रगाढ़ प्रेम करते रहने को आवश्यक समझता हूँ। मैं प्रेम को जीवन का मूल्य मानता हूँ। प्रेम है क्या? यह एक का किसी दूसरे से सम्बद्ध होना है। दो आत्मीय इकाइयों का एकात्म होना है। यह देवताओं की दुनिया का प्रेम नहीं है कि उन्हें प्रेम करो और आदमी को बिसार दो, सतत् उसकी उपेक्षा करते रहो। इतना ही नहीं, प्रेम मानवीय चेतना की परम उपलब्धि है जिसे प्राप्त कर आदमी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। जो आदमी सृजनधर्मी है और चेतना को मानवीयता से सम्प्रेषित करता चलता है वही तो अपने सृजन के बल पर मरकर भी नहीं मरता। वही मृत्यु पर जीवन की जय की घोषणा करता है।

मैं कवि हूँ, पत्नी प्रेमी हूँ। इस संसार में ही वर्षों-वर्षों रहना और जीना चाहता हूँ। जैविक जीवन मात्र नहीं, अपितु सृजनधर्मी चेतना का जीवन जीना चाहता हूँ। मेरी पत्नी दिवंगत हो चुकी हैं। फिर भी वह मेरी चेतना में जीवित हैं और मुझे निरन्तर दिखाई देती हैं। हम दोनों एक दूसरे को जिलाये हुए हैं। वह मुझे द्वन्द्व झेलने के लिए प्रेरित करती रहती हैं। यदि वह ऐसा न करती होती तो मैं इस बुढ़ापे में अकेला होकर सबसे कटकर, चल बसता। लेकिन सत्य को समझकर मैंने ऐसे चेतन प्रेम से जीना सीख लिया है और अभी भी पूर्ववत् अपने देश की मिट्टी से, पेड़-पौधों से, पशु-पक्षियों से, ऋतु-परिवर्तन से, नदी और पहाड़ों से, काम-काज करते आदमी-औरतों से, और मानवीयता के

अनेक कार्यक्रमों से, दायित्वों और अधिकारों से जुड़ा हुआ हूँ और आगे भी जुड़ा रहूँगा। यही जुड़ा रहना मेरा जीवन जीना है। यही जुड़ा रहना मृत्यु को मेरे पास नहीं आने देता। शरीर से क्षीण होकर भी, ललक और लालसा से, चेतना के चमत्कार से, शरीर को साधे रहता हूँ और अभी अदेही न होने का दृढ़ संकल्प बनाये रखता हूँ।

इस प्रकार इस संकलन की मेरे प्रेम की कविताएँ, जीवन को ललक से जीने की मेरी लालसा को प्रतिबिम्बित करती है। ये मुझे मौत से कोसों दूर रखती हैं।

ऐसी चेतना को अपने जीवन जीने का आधार बनाकर मैंने मृत्यु पर विजय पाने की पताका फहराई है। इसी के बलबूते पर मैंने महाकाल को सम्बोधित करके उसे पास न आने के लिए ललकारा है और उसके अस्तित्व को चुनौती दी है। मैंने महाकाल के व्यक्तित्व को स्वीकारा नहीं, वरन् उसकी जनमानस में विराजी इकाई को ही सम्बोधित किया है। 'होना-न होना' यह तो प्रकृति का नियम है। मैं उस नियम का अपवाद नहीं हो सकता। लेकिन चेतना का सृजनधर्मी कवि होकर अभी और अधिक समय तक जीवित रह सकता हूँ। जब देह त्याग दूँगा तो उसके बाद भी अपनी काव्य-चेतना में प्राणवन्त बना रहूँगा और महान मूल्यों की मानवीय चेतना में सतत् प्रवाहित रहूँगा।

कभी-कभी मैं भी दुर्बल क्षणों में जनमानस में विराजे महाकाल के आतंक से घबराया हूँ। लेकिन, दूसरे ही क्षण, सत्य की समझ से मैंने ऐसे महाकाल को दुतकारा है और इन कविताओं को लिख-लिखकर अपना दायित्व निबाहा है।

इस संकलन में, प्रकृति से सम्बन्धित, लोगों से सम्बन्धित, राजनीति से सम्बन्धित तथा और भी कई तरह की कविताएँ हैं।

पाठकों से निवेदन यही है कि वे इन्हें पढ़कर, अपनी मानसिकता और मेरी मानसिकता और चेतना से तादात्म्य स्थापित करें।

अन्त में मैं अपने सभी शुभचिंतकों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। वे हैं मेरे ही नगर के सर्वश्री रामप्यारे राय, वी० के० राय, एहसान आवारा, नरेन्द्र पुंडरीक, जयकांत शर्मा, आनंद सिन्हा, श्रीमती मनोरमा

अग्रवाल, कौशल किशोर गुप्ता, रामेश्वर भाई, जगतनारायण शास्त्री, शिवशरण गुप्ता, नीलू, पूरनलाल अग्रवाल, ओमबाबू, विश्व प्रकाश सिन्हा, रामविशाल सिंह और मेरे अपने भतीजे जो कि मुझे सब तरह की सहूलियत प्रदान करते हैं। टेलीग्राफ दफ्तर के चन्द्रपाल कश्यप भी मुझसे स्नेह पाने के अधिकारी हैं। उन्होंने मेरी इस बोली हुई भूमिका को बड़े चाव से, अपना समय देकर लिखा है।

इलाहाबाद की डॉ० आशा गुप्ता, योगेश अग्रवाल, डॉ० विजय अग्रवाल के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

अपने प्रकाशक श्री शिवकुमार सहाय को तो सदा ही याद करता रहता हूँ और उन्हीं के साथ, डॉ० अशोक त्रिपाठी को भी उतना ही याद करना रहता हूँ। त्रिपाठी जी ने तो इस संग्रह की कविताओं को क्रमबद्ध किया है और इलाहाबाद में भी इस संकलन के प्रकाशन से सम्बद्ध हैं। इम्पैक्ट के राधेश्याम जी भी अपना सहयोग देकर उपकृत करते हैं। उन्हें भी सस्नेह याद करता हूँ।

गणतंत्र दिवस 1988

बाँदा (उत्तर प्रदेश)

—केदारनाथ अग्रवाल

अनुक्रम

कविता का शीर्षक	रचना-तिथि	पृष्ठांक
गुलाब के फूल	27-10-64	17
प्यार तुम्हारा	26-9-85	18
फिर मुसकाईं	26-11-85	19
मौन पड़ी हैं प्रिया-प्रियम्बद	25-12-85	20
मैं जागूँ या सोऊँ	27-12-85	21
इनका जीवन अब है केवल	28-12-85	22
इस दुनिया को अभी न छोड़ो	29-12-85	23
तुम चल दोगी तो क्या होगा?	1-1-86	24
इतना सच है प्यार हमारा	1-1-86	25
अच्छा होता	1-1-86	26
तुम उठकर घर आतीं	2-1-86	27
उठो	3-1-86	28
बीत रहे दिन	5-1-86	29
देख रहा हूँ मैं तो तुमको	9-1-86	30
जीने को जिऊँगा अब भी	10-1-86	31
हर सुबह	12-1-86	32
जब देखो तब यही सोचता रहता हूँ मैं	13-1-86	33
मन माने तो कैसे माने	16-1-86	34
क्यों रोऊँ	12-2-86	35
न होकर भी तुम हो मेरे पास	5-4-86	36
देह तुम्हारी भस्म हुई	9-4-86	37

तुम अदृश्य से आ जाती हो	24-4-86	39
स्वप्न में सामीप्य पाता हूँ तुम्हारा	25-4-86	41
देह मेरी	18-5-86	42
मैं हूँ	21-5-86	43
फूल	21-5-86	44
जाओ	25-5-86	45
तुम आती हो	26-5-86	46
जो होता है	27-5-86	47
मैं तुमको जीता हूँ	27-5-86	48
तुम अदेह भी	27-5-86	49
हमने-तुमने प्यार किया है	31-5-86	50
याद आयी	5-6-86	51
वह आयीं	5-6-86	52
जब तुम आकर आज	5-6-86	53
सब कुछ अच्छा है	9-6-86	55
धनी नहीं	11-6-86	56
जब देखा	27-6-86	57
चली गयीं तुम	2-9-86	58
मेरी चेतना में	4-9-86	59
रच गया मैं	2-10-86	60
चिता जली	6-10-86	61
जब-जब उत्कट अंधकार ने	22-10-86	62
चेतना मेरी जिलाये है तुम्हें	26-10-86	63
तुम मेरी	15-2-87	65
कुछ नहीं होता जहाँ	21-2-87	66
धूप बहुत खायी है मैंने	24-2-87	67
अब तक मैंने	27-2-87	68
तुम मिलीं यों	25-3-87	69

छत से लटका	24-4-87	70
चुप रहीं वह	1-6-87	71
याद आयी	3-6-87	72
बल और वेग से	7-6-87	73
युवा आयु के जब हम दोनों	3-7-86	75
कोयल कुहुकी, फिर-फिर कुहुकी	31-7-87	76
पूछते हैं लोग मुझसे	18-8-87	77
तुम आईं	14-10-87	78
तुमने मुझको मौन पुकारा	15-10-87	79
हरसिंगार के	17-10-87	80
सुबह हुई	29-10-87	81
देवता	15-3-64	82
समय काटती है घड़ी	9-11-64	83
भीतर रोता	6-12-85	84
वही घर है	21-3-86	85
जितने दिन जीना है	5-5-86	86
मैं समय को साधता हूँ	7-5-86	87
आईं माँ की याद	19-5-86	88
देह से जुड़ा	6-7-86	90
हाँक रहा	24-8-86	91
दे चुका	25-8-86	92
मरते दम तक	2-9-86	93
न होने की ओर अब	6-6-86	94
मैं नदी में डूबकर भी	12-10-86	95
सोचते-सोचते सोचता रहता हूँ मैं	2-1-87	96
न कुछ हूँ-	21-2-87	97
सोचते-सोचते	24-3-87	98
बहुत कुछ चाहते-चाहते	25-5-87	99

आज तो मैं	7-8-87	100
पत्र मिला तो लगा कि जैसे	31-7-87	101
समय को पीता हूँ मैं क्षीर की तरह	24-8-67	103
पंख पा गयी मृदंग की आवाज	1-9-67	104
महाकाल बरजोर!	6/13-12-87	105
न चाहने के मन से उसे चाहा	16-12-64	121
वह कविता नहीं बोधते	8-4-86	122
वह जो लिखते हैं	9-6-86	123
मैं गाऊँ या कभी न गाऊँ	1-6-86	124
बहस जारी है	1-9-86	126
वे अपने ही	14-8-87	127
किताब में सोयी कविता	21-8-87	128
जग उठी, सोयी कविता	8-9-87	129
नागार्जुन कवि हैं	14-6-86	130
आये	10-10-86	132
हे मेरी तुम!	12-1-81	133
वहाँ	24-11-85	134
आज	15-1-85	135
आसमान को घेरे-छाये	15-1-86	136
वृद्ध पेड़ के	16-2-86	138
पेड़ खड़ा	16-2-86	139
खूब फूली खड़ी है	15-2-87	140
दिन भर रहे	15-2-87	142
नीलसिंधु के ऊपर	7-6-87	143
दिन दहाड़े	7-6-87	144
जब से आया महानगर में	9-8-87	145
नदी ने बरसों	21-8-87	147
नदी को	21-8-87	148

फूला खड़ा है	21-10-87	149
धुआँ है	1965	150
न उगीं जहाँ कभी पहले	1965	151
हम जीते हैं	1965	152
स्वार्थ सिद्ध होता है उनका	1965	153
कुछ है, इस जंगल में	25-10-67	154
घड़े में	26-10-67	155
तृण हैं	29-11-75	156
शोर है-जनाब!	5-12-75	157
घर की घुटन में पड़ी औरतें	10-1-80	158
देखे देश	31-8-80	159
‘सच’ अब ऐसा नासमझ हो गया है	1-9-80	160
ठहरो, ठाकुर, ठहरो	11-4-81	161
देह में देशी	20-1-82	163
लम्बान में लम्बे हुए	5-12-85	164
गया पचासी	1-1-86	165
हरेक जीता है यहाँ समाज में	6-4-86	166
मर्त्यलोक में	21-5-86	167
‘सच’ अब नहीं रह गया ‘सच’	28-5-86	168
हम मर गये आपके लिए	27-5-86	169
सुनो	9-6-86	170
मिलते नहीं वे	11-6-86	171
जीने के नाम पर जीते हैं वे ‘न जीना’	13-6-86	172
कुछ हैं	26/29-6-86	174
हम नहीं जीते उनको	9-9-86	177
खेत और खेत हैं	6-6-87	178
तुम टुड़ियाँ हो	9-8-87	180
कहे न चाहे कोई भकुवा	10-8-87	181

जब जब	14-8-87	183
शेर के मुँह में	21-8-87	184
कुछ नहीं कर रहा वह	16-9-87	185
तब देखा था	10-11-87	187
चलती है	24-11-87	189
हरेक जीता है यहाँ	नवम्बर, 1985	190
चार दिनों से	14-1-86	191
मैंने देखा	15-1-86	193
रात है	14-5-86	194
तुम हो	11-8-86	195
अपना भारत एक है !	7-1-87	197
ऐसा सोया	13-2-87	201
बँधे	17-2-87	202
पंद्रहियों से ललकता	26-7-87	203
डूब गया मैं तुममें पूरा	14-8-87	204
जवान क्या हुई गरीबदास की बिटिया	28-7-87	206
प्रेम ने छुआ	13-9-87	207



गुलाब के फूल

गुलाब के फूल
चुनता हूँ मैं
उसके लिए,
चुन लिया है
जिसने मुझे
अपने लिए,
काव्य की सृष्टि में
अमर रहने के लिए

27-10-1964

प्यार तुम्हारा

प्यार तुम्हारा-
प्रबल,
प्रवर है
मिला मुझे,
कर रहा अमर है
नहीं मिलेगी
विजय काल को
जिसमें व्यापित
हार-हहर है

26-9-1985

फिर मुसकाई

फिर मुसकाई
प्रिया पोपले मुँह से अपने
कई दिनों के बाद,
बड़े सबेरे;

हर्ष-हर्ष से
फूल उठा मेरा अस्तित्व;
मैं हो गया निहाल

26-11-1985

मौन पड़ी हैं प्रिया प्रियम्बद

मौन पड़ी हैं प्रिया प्रियम्बद,
बिना बोल का मुँह खोले;
प्यार-पुलक की आँखें मीचे,
दुख में डूबी साँसें लेती !

पास खड़ा मैं,
महाकाल को
रोक रहा हूँ,
कविताओं का घेरा डाले,
यहाँ न आये
उनको लेने;
जीवन की जय
प्रेम-योगिनी पायें

25-12-1985

मैं जागूँ या सोऊँ

मैं
जागूँ या सोऊँ
तुम्हें न खोऊँ
अब तक
मैंने यही किया है,
हमने जीवन साथ जिया है !

लगता है अब—
साथ छूटने वाला है;
मुझे छोड़कर
साथी जाने वाला है !

मैं घबराता,
चिंता से अकुलाता,
प्रेरक कविताएँ रच-रचकर,
जीने का बल पाता;
महाकाल से
लड़-लड़ जाता;
प्राणप्रिया को
कंठ लगाये गाता

27-12-1985

इनका जीवन अब है केवल

इनका जीवन अब है केवल
दिल की धड़कन;
आती-जाती
मंद श्वास का निर्बल कम्पन;

जीती हैं
पर नहीं जानतीं
अपना जीना

अस्ति-नास्ति का
ज्ञान खो गया

भाव न आते,
भाव न जाते;
वाणी रूठी;
मौन पड़ी हैं;

चेतन चित् में
इन्हें जिलाये
मैं जीता हूँ

28-12-1985

इस दुनिया को अभी न छोड़ो

इस दुनिया को अभी न छोड़ो,
प्रिया प्रियम्बद!
आँखें खोलो;
शुभाशीष दो प्रिय अशोक को,
प्रिय पोतों को,
बहू ज्योति को;

हँस कर हेरो,
अभय बनाओ;
इनको अपना अमर प्यार दो,
और जियो, तुम
महाकाल को
मन से जीतो;
सुख सरसाओ

29-12-1985

तुम चल दोगी तो क्या होगा?

तुम चल दोगी तो क्या होगा?

मौन खड़ा हिमवान अकेला रोता होगा;
सूरज-चाँद सितारों की
आँखों में भी आँसू होगा;
रोते-रोते धरती का भी
आँचल गीला होगा;
मेरा प्यार पवन-पानी में
उड़ता-फिरता जीता होगा;

तुम न रहोगी तब भी हृदय तुम्हारा होगा,
मेरे जीवन में बजता संगीत तुम्हारा होगा

1-1-1986

इतना सच है प्यार हमारा

इतना सच है प्यार हमारा
जितना सच है
महाकाल से बचा अमर ध्रुव-तारा;
इसी प्यार से
हमने-तुमने
अपना जीवन सदा सँवारा

इतना प्रिय है प्यार हमारा
जितना प्रिय है
गिरे मनुज को देना प्राण-सहारा;
इसी प्यार से
हमने-तुमने
पाया अपना कूल-किनारा

1-1-1986

अच्छा होता

अच्छा होता
यदि तुम अच्छी होकर, फिर से,
घर-बाहर का जीवन जीतीं;
आँसू-ओस और रस पीतीं;
मेरे साथ-साथ पग रखतीं,
समय नसेनी पर चढ़ चलतीं,
नीचे नहीं उतरतीं;
धरती और गगन के सच की
साँसें लेतीं;
मानव होने की गरिमा
हम-सब को देतीं

1-1-1986

तुम उठकर घर आतीं

तुम उठकर घर आतीं,
बेटे को अपनातीं,
पोतों से बतियातीं,
अपने कंठ लगातीं,
खुश होकर मुसकातीं;
पास बहू को पातीं
तो उस पर
बलि जातीं;
ममता से उफनातीं;
तो मुझको सुख मिलता,
मुख सरोज-सा खिलता

तुम्हें देखता रहता;
रूप-माधुरी गहता;
वाणी में रस भरता,
कविता बनकर
झरता

2-1-1986

उठो

उठो,
नमन कर लो धरती को,
सूरज के शासन में हँस लो,
प्यार-पुलक से
घट-घट भर दो;
हर लो
हम-सब का दुख
हर लो;

जियो,
और जीने का वर दो
साथ न छूटे ऐसा कर दो

3-1-1986

बीत रहे दिन

बीत रहे दिन—
बीत रहे दिन,
एक-एक दिन, गिन गिन;
अब तक, अब तक,
होश न आया
तुमको;
बेहोशी में
बीत रहे दिन
बुरे-बुरे दिन, गिन गिन

बीत रहे दिन—
बीत रहे दिन,
बिना चैन के दिन दिन;
अब तक, अब तक,
आँख न खोली
तुमने;
प्राण-बेधते
बीत रहे दिन
एक-एक दिन, गिन-गिन

5-1-1986

देख रहा हूँ मैं तो तुमको

देख रहा हूँ मैं तो तुमको
अन्तर्मन में;
तुलसीकृत रामायण पढ़ते,
उठकर, चलकर,
तुलसीथाले के समीप जा,
'तुलसीजी' की पूजा करते;
भक्ति-भाव से,
विनय-प्रार्थना में
श्रद्धा से झुकते;
दुनिया के दुख-दंशन का विष हरते

अस्पताल में
यद्यपि तुम
अब भी अचेत हो,
लेकिन मेरे अन्तर्मन में तुम सचेत हो

9-1-1986

जीने को जिऊँगा अब भी

जीने को जिऊँगा अब भी,
मरते दम तक,
बिना तुम्हारे,
प्रिया प्रियम्बद!

दारुण, दाही, एक-एक दिन-रात काटते;
प्रेम-योग से
कर्म-योग की सिद्धि साधते;
लेकिन, तब भी,
तुम्हें काव्य में
किये प्रतिष्ठित
मूर्ति तुम्हारी किया करूँगा बिम्बित
चेतन चित् में
पूरी तरह जिलाये,
मर्त्य-लोक में अमर बनाये

10-1-1986

हर सुबह

हर सुबह,
हर दोपहर,
हर शाम,

लिख रहा हूँ मैं तुम्हारा नाम
बन-बिगड़कर
बन रहा हूँ रोज,
कर रहा हूँ मैं तुम्हारा काम

सत्य औ'
संज्ञान
मेरे प्राण,
चाहिए मुझको नहीं सुर-धाम

चेतना से
काव्य है
संपुष्ट,
जीत लूँगा काल का संग्राम

12-1-1986

जब देखो तब यही सोचता रहता हूँ मैं

जब देखो तब यही सोचता रहता हूँ मैं;
कैसे
अपनी प्रेमयोगिनी
प्रिया प्रियम्बद पार्वती को
रोग-मुक्तकर पाऊँ;

महाकाल के महासमर में
कैसे-कैसे किस करतब से
उन्हें जिलाऊँ;
प्राणवन्त कर, कैसे जय-श्री उन्हें दिलाऊँ;
कैसे अपने घर ले आऊँ,
बेटे और बहू-पोतों के बीच हसाऊँ,
मैं खुद फूला नहीं समाऊँ
उनकी आँखों में मुसकाऊँ
उनकी वाणी से रस पाऊँ?

इसी सोच में पड़े-पड़े मैं
और नहीं कुछ कर पाता हूँ
व्यथा-व्यथा में डूबा-डूबा उतराता हूँ
केवल कविता में जीता हूँ
दुख को मैं
कविता के बल पर
सुख जैसा ही पीता हूँ

13-1-1986

मन माने तो कैसे माने

मन माने तो कैसे माने,
तुम्हें छोड़कर
और किसी को
कैसे जाने;
तुमने ही तो उसे जिलाया;
तुम्हें रोग से ग्रस्त देखकर
अब अकुलाया

मैं कैसे उसको समझाऊँ
मेरे वश की बात नहीं है
कुछ कह पाऊँ

आँखें खोलो,
तुम मुसकाओ,
दारुण दुख से
अब तुम उसको
शीघ्र बचाओ

16-1-1986

क्यों रोऊँ मैं

क्यों रोऊँ
मैं
क्यों पछताऊँ?
संतापित क्यों होऊँ?
क्यों मैं तुम्हें भुलाऊँ?

प्रिया-प्रियम्बद
पार्वती! तुम
जरा-मरण को पार कर गयीं,
कविता बनकर
प्यार भर गयीं

12-2-1986

पत्नी का देहावसान 28-1-1986 को सवा छः बजे शाम हुआ

न होकर भी तुम हो मेरे पास

न होकर भी तुम हो मेरे पास
लबालब प्यार में
आकंठ डुबाये

अवस्थित देखता हूँ तुम्हें
दिल और दिमाग में
अब भी होता हूँ आत्मविभोर,
अब भी नहीं मिलता
मेरे सुख का
ओर-छोर

अब भी कुसुमित है मेरा पोर-पोर
तुम्हारे संस्पर्श से उद्दीप्त

5-4-1986

देह तुम्हारी भस्म हुई

देह तुम्हारी भस्म हुई
तब उसने सागर पाया,
वैसे उसने जीवित रहते उसे न पाया

आज,
स्वप्न में, लेकिन तुमने
ऊपर आकर,
सागर की लहरों के स्वर से
मुझे पुकारा

मैंने तट से तुमको देखा,
हाथ हिलाया,
मैंने कहा कि मैं आता हूँ,
ठहरो

तुमने कहा कि तुम मत आओ,
मैं आती हूँ

तैर-तैरकर,
तुमने तट तक
आना चाहा

बस, इतने में,
नींद खुल गयी,
मिलन न तुमसे हो पाया

देखा तुमको,
बस मुसकाते,
और लोप हो जाते

9-4-1986

तुम अदृश्य से आ जाती हो

तुम अदृश्य से आ जाती हो,
दृश्यमान हो,
मुसकाती हो
अपने संस्पर्शों से मुझको
भाव-विह्वला
अपनाती हो
मेरे भीतर, मद की माती
पुष्प-गंध-सी छा जाती हो
जग-जीवन में, मनोयोग से,
मेरे प्रान लगा जाती हो

फिर, अदृश्य हो,
दृश्यमान को
पुलक-प्यारमय कर जाती हो,
कविताओं की काया पाये
रंग-रूप से
इठलाती हो

तुम जीती हो
मुझे जिलाये,
मैं जीता हूँ तुम्हें जिलाये

असमंजस में काल पड़ा है,
हम दोनों से दूर खड़ा है

24-4-1986

स्वप्न में सामीप्य पाता हूँ तुम्हारा

स्वप्न में सामीप्य पाता हूँ तुम्हारा,
एक होकर
फिर न रहता थका-हारा

द्वैतदर्शन अब नहीं मुझको सताता,
बस,
मुझे अद्वैतदर्शन है सुहाता

प्रेम की परिपूर्णता में, जिन्दगी है
मानवी सम्पूर्णता में जिन्दगी है

चेतना के योग से संयोग पाया,
मैं,
विरह-विस्तार पीछे छोड़ आया

25-4-1986

देह मेरी

देह मेरी
अब तुम्हारी देह है,
नेह मेरा
अब तुम्हारा नेह है

चेतना मेरी
तुम्हारी चेतना है
चेतना में
जिन्दगी की वेदना है,

वेदना
अब
मौन मन की वंदना है,
वंदना
अब
राग-रंजित व्यंजना है

व्यंजना
कर्मठ करों की अर्जना है,
अर्जना
सुख-शान्तिदायी सर्जना है

18-5-1986

में हूँ

में हूँ
तुम हो,
यहाँ अकेली
बुझी आग के ऊपर,
गरम राख में एकमएक'
सुन्दर
सार्थक,
जीवन की
अभिव्यक्ति
सजीव !

21-5-1986

फूल

फूल—
अब
याद के फूल हैं
प्यार-प्यार से महके
हमको
तुमको
एक बनाये
बेहद अच्छे लगते

21-5-1986

जाओ

जाओ,
लेकिन आत्मगंध
दे जाओ,
जाते-जाते फिर मुसकाओ,
सुख दे जाओ

जाओ,
लेकिन दृष्टि-दीप्ति
दे जाओ,
जाते-जाते द्वैत मिटाओ,
प्रेम-लीन
अद्वैत बनाओ

जाओ,
लेकिन व्याप्ति-बोध
दे जाओ,
जाते-जाते मृत्यु-विजेता
चुम्बन देकर,
लेकर जाओ

25-5-1986

तुम आती हो

तुम आती हो
यहाँ नहीं जब कोई आता
जब आँखों में जल भर आता,
जब करुनाकुल जी घबराता
जब जग-जीवन तनिक न भाता

तब अदृश्य से
दृश्यमान हो,
तुम आती हो; सहलाती हो—
मेरा माथा; चूम-चूमकर—
मेरी पलकें
मेरे आँसू पी लेती हो;
मुझे भेंटकर—
जीने की रुचि रुचिर
बनाकर
फिर अदृश्य हो चल देती हो

26-5-1986

जो होता है

जो होता है—
इस होने में
मैं सदेह हूँ
तुम अदेह हो
इस होने को मैं जीता हूँ देह धरे
इस होने को तुम जीती हो देह तजे

एक हुए हम दोनों जीते व्याप्ति-बोध में
समय और संसार हमारा एक यही है
जिसमें सबको जीना होता

इस होने के बाद,
'न होना' हमें न होगा
तब अदेह भी
हम सदेह कविता में होंगे

कविता नहीं अदेह हुई है,
कविता सदा सदेह हुई है

27-5-1986

मैं तुमको जीता हूँ

मैं
तुमको जीता हूँ
अपने जीने में भी

मैं
तुमको रचता हूँ
अपने रचने में भी

मैं
तुमको पाता हूँ
अपने पाने में भी

मैं तुमको देता हूँ
अपने देने में भी

यह क्रम
चालू रहे सदा ही
हम दोनों का
इस क्रम में ही प्यार पलेगा
हम दोनों का

27-5-1986

तुम अदेह भी

तुम
अदेह भी
मुझ सदेह में प्राणवान हो

हम दोनों जीते हैं जग में
व्याप्ति-बोध में एक हुए—
अब एक समान

तुम
अदेह हो—
अद्वैती हो

मैं
सदेह हूँ—
अद्वैती हूँ

हम अद्वैती
प्रेम-पगे अविनाशी हैं
मर्त्य-लोक के हम
अमर्त्य अधिवासी हैं

27-5-1986

हमने-तुमने प्यार किया है

हमने-तुमने प्यार किया है
प्राणवंत हो प्यार पिया है
बड़े प्यार से कर्म किया है
देश-काल का मर्म जिया है
बीते छप्पन साल हमारे
संग-साथ में, प्राण न हारे

यद्यपि
अब मैं रहा अकेला
फीका लगता जग का मेला
फिर भी प्यार वही है मेरा
हो पायेगा नहीं अँधेरा

मैं जीता हूँ तुम्हें जिलाये,
प्यार-प्यार की सृष्टि रचाये
कविताओं में तुम जीती हो
शब्द-अर्थ की संहति पाये

31-5-1986

याद आयी

याद आयी,
और तुम आ गयीं पास
फिर मिला सहवास,
अस्ति का उल्लास,
प्राणवंत प्रकाश

5-6-1986

वह आयीं

वह आयीं
मेरी आँखों में
आयी ज्योति

चाँद हुई वह
मैं हो गया
चकोर

प्राकृत प्रेम
हुआ बरजोर,
जीवन-दायी
नेह-निहोर

5-6-1986

जब तुम आकर आज

जब तुम आकर आज,
अकेला छोड़, अदृश्य हुई,
मैंने देखा :
प्रिय धरती का श्यामल रंग

खड़ा हुआ मैं
आसमान के नीचे ऐसे
श्यामल धरती की छाती पर
मधुर कंठ से
मैं गाऊँगा जैसे—

लेकिन
मुँह ने
खुलने से
इनकार कर दिया

टूटा भ्रम,
हुआ न गम
यह गाने का समय नहीं था
मुँह का निर्णय
सत्य-सही था

मैंने जमकर काम किया फिर
मनोयोग से दिन भर,

तुमने मुझसे सदा कहा है;
प्रेम नहीं निष्क्रियता है—
प्रेम सघन सक्रियता है

5-6-1986

सब कुछ अच्छा है

सब कुछ अच्छा है
मगर 'अच्छा' भी
नहीं अच्छा है
तुम्हारे बगैर

'अच्छा' भी
कैसे लगे 'अच्छा'
जब अच्छे का एहसास
न हो पास
तुम्हारे बगैर

तुम आओ तो
देखूँ तुमको,
तुम मुसकाओ तो
अच्छे का हो एहसास,
'अच्छा'
फिर लगे 'अच्छा'
तुम्हारे साथ

9-6-1986

धनी नहीं

धनी नहीं,
सम्राट नहीं था,
अर्थहीन असमर्थ रहा था

ऐसे में
जो दे पाता था
प्यार-प्यार ही दे पाता था

उसी प्यार को देते देते
तुम्हें प्यार में रहा जिलाये

तुमने भी तो
प्यार दिया था,
पाकर मैंने प्यार जिया था

उसी प्यार का
यह है मेला,
अब मेले में नहीं अकेला

11-6-1986

जब देखा

जब देखा
मुसकाते देखा तुमको;
मन को मारे
हिम्मत हारे
कभी न देखा तुमको

जब देखा
मन वारे देखा तुमको
तम में डूबे
ऊबे-ऊबे
कभी न देखा तुमको

जब देखा
तब खुश-खुश देखा तुमको
रोते-रोते
आँसू बोते
कभी न देखा तुमको

27-6-1986

चली गयीं तुम

चली गयीं तुम
लेकिन जाते-जाते
नैसर्गिक मुसकान दे गयीं अपनी
जो
उबारकर, मुझे जिलाये
अजर बनी है,
मुझको
मेरी कविताओं को
अमर बनाये

2-9-1986

मेरी चेतना में

मेरी चेतना में
व्याप्त है
तुम्हारा साकार सौन्दर्य

अंग-प्रत्यंग से
अनुरक्ति विकीर्ण करता,
जीवन्त जागरण से
मुझे बनाये अपना,
कर्त्तव्य में लगाये
प्राण पौरुष से

4-9-1986

रच गया मैं

रच गया मैं
बच गया मैं
बस तुम्हारे वास्ते
काव्य के इस रास्ते

फिर मिला मैं
फिर खिला मैं
बस तुम्हारे वास्ते
प्यार के इस रास्ते

2-10-1986

चिता जली

चिता जली
तो मैंने देखा;
दहन दाह में
कंचनवर्णी पंखुरियों का
कुबलय
प्रमुद खिला
रज को
राग-पराग, मिला

6-10-1986

जब-जब उत्कट अंधकार ने

जब-जब उत्कट अंधकार ने
मुझ पर अपना वार किया,
तब-तब तुमने प्यार-प्यार के प्रिय प्रकाश का
अमृत ज्वार बन,
अविचल रह; उसका प्राकृत प्रतिरोध किया;
उसके उन्मद आच्छादन को
मंद मधुर मुसकान मारकर
तार-तार संहार किया

मैं काँपा-घबराया,
आहत होने के पहिले ही
तुमने अपनी बाहें खोली,
आलिंगन में लेकर मुझको,
मेरे तन को-मन को तुमने मुदित बनाया-
मुझको कंठ लगाया-
भावातुर अपनाया-
मैंने तुमको-तुमने मुझको पाया

इसी तरह से जीते-जीते,
अंधकार से हम-तुम जीते
इसी तरह से रहते-रहते बीते जीवन निर्भय बीते

22-10-1986

चेतना मेरी जिलाये है तुम्हें

चेतना मेरी जिलाये है तुम्हें,
पास, तुम, बैठी हुई हो

मैं मगनमन देखता हूँ;
केश लम्बे कुंडलित हैं—
माँग में सेन्दुर अभय है—
माथ में अरुणाभ टीका दमदमाता—
नाचता है
बड़ी आँखों में उजाला
आन्तरिक आह्लाद से उत्फुल्ल—
राग-रंजित मंद मुसकाते अधर
जग जीतते हैं—
वक्ष में
धीरज धरा का गूँजता है—
अंक में आलोक
चिन्ता-मुक्त बैठा
प्रिय पवन से खेलता है—
क्षीण कटि है
आयु की अवशेष जैसी—
चल चुके पद देह को साधे हुए हैं

जय-विजय की
जिन्दगी तुम जी रही हो

मौत तुमको देखती है भवें ताने,
क्षुब्ध मन से

हर न सकती अब तुम्हें,
हार कर कुंठित कुपित है

मैं उसे ललकारता हूँ

रुक न पायी,
गयी, ओझल हो गयी

रह गयी
गाती तरंगित—
दिग्विजयिनी चेतना की काम्य कविता
तुम्हें मेरी प्रिय बनाये
प्यार से मुझको रिझाये

मैं तुम्हारे साथ जीवन जी रहा हूँ
शक्ति से—
सामर्थ्य से
आनन्द से

26-10-1986

तुम मेरी

तुम मेरी-
मैं हुआ तुम्हारा
हम दोनों ने तन-मन वारा
रहा न कोई कूल किनारा
सिंधु हुआ अनुराग हमारा

15-2-1987

कुछ नहीं होता जहाँ

कुछ नहीं होता जहाँ
तुम पास होती हो वहाँ
मैं नहीं होता उदास,
मैं नहीं होता हताश

प्यार से तुम मुझे जीतीं
प्यार से मैं तुम्हें जीता
प्यार से संसार चलता
प्यार से संसार फलता

21-8-1987

धूप बहुत खायी है मैंने

धूप बहुत खायी है मैंने
मार बहुत खायी है मैंने
फिर भी
पीड़ित रहकर मैंने
आँसू नहीं गिराये,
मैं
ओठों पर
सदा रहा
मुसकान बिठाये—
आँखों में
ममता के
दीपक रहा जगाये

तुम पर मैंने तन-मन वारा,
सत्कर्मि व्रत मैंने धारा,
कलाकलापी लोक सँवारा

24-2-1987

अब तक मैंने

अब तक मैंने
जितना-जितना
तुमको जाना
उस जाने से
अनजाने की देह टटोली,
उस जाने से
अनजाने की आँखें खोलीं
उस जाने से
अनजाने को दे दी बोली

हम दोनों ने
ऐसे ऐसे जीवन जाना
बड़े प्यार से
भीतर-बाहर से पहचाना
सत्य समर्पित रहे-रहे हम साथ जिये
गुन-गौरव को गहे-गहे हम साथ जिये

27-2-1987

तुम मिलीं यों

तुम मिलीं यों
साँप को मोती मिले ज्यों दीप्ति का
और मैं
जीने लगा
तुमको लिए
भव-सिन्धु में

25-3-1987

छत से लटका

छत से लटका
मौन मार से मारा पंखा

बिजली के आते ही
पाकर प्राण, जी उठा
लगा काटने चक्कर पर चक्कर उमंग से
हवा-हवा भर गयी ताप हर कमरे भर में,

हवा-हवा का
आलिंगन फिर मैंने पाया
ताप-दाप से मुक्त हुआ तन,
सुख सरसाया
चैन-चैन में दुपहर बीती, नींद आ गयी
तभी प्रिया से
स्वप्न-स्वप्न में भेंट हो गयी
बड़ी-बड़ी आँखों में मैंने जी भर देखा
और अमर मुसकान भरे
ओठों को चूमा

24-4-1987

चुप रहीं वह

चुप रहीं वह
प्रज्वलित जैसे दिये की जोत,
और मैं
डूबा रहा—डूबा रहा,
बस, मौन के आलोक में,
कुछ नहीं मैंने कहा

प्यार को चुपचाप पीता ही रहा,
प्यार को चुपचाप जीता ही रहा,
प्यार से दमदम
दमकता ही रहा,
प्यार से प्रतिपल पुलकता ही रहा

1-6-1987

याद आयी

याद आयी
याद प्रिय को साथ लायी
याद ने
मुझको प्रिया को फिर दिखाया
याद ने मुझको प्रिया से फिर मिलाया

मिलन मधुमय हुआ
जीवन जगमगाया
चेतना ने कर्म का उत्सव मनाया
आत्मगंधी बोध ने
जग-बोध पाया
द्वंद्व में निर्द्वन्द्व मैंने गीत गाया

3-6-1987

बल और वेग से

बल और वेग से
समय को चीरती
भागती-दौड़ती धकाधक,
निधड़क चली जाती है
तमिलनाडु एक्सप्रेस

भीतर सीट में बैठा निस्संग
काटते-काटते भी नहीं काट पा रहा मैं
समय के डोर की लम्बी दूरी,
बहुत बड़ी है मेरी मजबूरी

आधे से अधिक फासले पर है मदरास
जल्दी पहुँचना है वहाँ मुझे
बहू-बेटे और पोतों के पास

बीत चुका एक साल
नहीं मिला उनसे,
खोया है वहीं मैंने एक साल पहले,
प्रिया प्रियम्बद पार्वती को,
करता हूँ याद जिन्हें बहुत-बहुत प्यार से

अब भी,
फिर वहीं जाता हूँ,

मुझको उन्हें
दृश्य में लाना है अदृश्य से
उनकी वही आत्म-गंध पाना है
उनकी सत् संगत में मौत को हराना है
जीवन को जीना
और गायन-सा गाना है
फूलों-सा फूल-फूल
झूम-झूम जाना है

आये मदरास
मिटे मेरा संत्रास,
पाऊँ सुख-वास
घर का उल्लास

7-6-1987

युवा आयु के जब हम दोनों

युवा आयु के जब हम दोनों
पहले-पहल मिले,
एक हुए हम
प्रेम-पुलक से पूरी तरह खिले

बाहुपाश में
बँधे-बँधे हम
बंधन-मुक्त हुए
निर्बंधन में संबंधन से फिर से युक्त हुए

हुआ सुरति-संवर्धन-रंजन
निजता विगत हुई,
अमित अनिजता से प्रतिबंधित
समता नियत¹ हुई

3-7-1986

1. नियत—स्थापित

कोयल कुहुकी

कोयल कुहुकी फिर-फिर कुहुकी
रस बरसाकर,
आज अचानक
मेरे तन-तरुवर पर आकर

ऐसे कलकूजन से तुमने मुझे पुकारा,
कुहुक-कुहुक में
मैंने पाया प्यार तुम्हारा

नाच उठा मैं,
कविताओं का लिए सहारा,
आत्मगंध के नेह-नाद ने मुझे उबारा

एक हुए हम
प्रेम-ज्वार ने हमें मिलाया
जग-जीवन के द्वन्द्व-द्वन्द्व में
हमें जिलाया

31-7-1987

पूछते हैं लोग मुझसे

पूछते हैं लोग मुझसे—
क्यों जिया—
क्यों जी रहा तेरे बगैर?

कह रहा हूँ :
याद में तुझको जिलाये,
नेह के नाते मधुर अब तक बनाये,
प्रेम से
दिन-रात के पर्वत उठाये,
जिन्दगी से
मौत को नीचा दिखाये,
जिया अब तक
और अब भी जी रहा हूँ

कह रहा हूँ :
मैं नहीं तेरे बगैर

18-8-1987

तुम आई

तुम आई
मुसकाई;
पुलक-प्यार के
अरुणोदय ने मुझे जगाया;
मैंने तुमको-
तुमने मुझको पाया;
दुर्लभ सुख ने
हम दोनों का
द्वैत मिटाया-
हम दोनों को एक बनाया
प्राणवंत हो
कला-कर्म से
मैंने दिवस बिताया

14-10-1987

तुमने मुझको मौन पुकारा

तुमने मुझको मौन पुकारा
मैंने तुमको मौन पुकारा;
फिर हम दोनों एक हो गये—दो न रहे;
कमल-नाभि से
निकले ब्रह्म हुए—
महाकाल से मुक्त हुए

15-10-1987

हर सिंगार के

हर सिंगार के
फूल बरसते मेरे ऊपर
मुझे प्यार मिलता है
नाजुक संस्पर्शों से
देह हुई
फूलों की घाटी,
सुधियों के मुखड़े मुसकाये
मैंने
जी से जिया समय को
प्रिया प्रियम्बद को अपनाये

17-10-1987

सुबह हुई

सुबह हुई :

जब याद तुम्हारी फिर से आयी,
जब आलोकित लोक-कला
फिर से मुसकाई

मैंने तुमको व्याप्ति-बोध में पाया;
मैंने तुमको
प्रिया-प्रियम्बद फिर से देखा;
मेरा जीवन धन्य हो गया;
कर्मलीन हो
मैंने दिन को जिया
हर्ष से फूला;
अपना एकाकीपन
मुझको भूला!

29-10-1987

देवता

देवता,
रोया है
मेरे भीतर
निकला उसी का रोया सागर
बाहर

उच्छल
लहराता
पछाड़ खाता
कातर

15-3-1964

समय काटती है घड़ी

समय काटती है घड़ी
टिक-टिक करती

उम्र काटता हूँ मैं
टिक्-टिक् सुनता

9-11-1964

भीतर रोता

भीतर रोता,
बाहर हँसता;
व्यथा फूल-सी मुख पर खिलती;
अब जीने की
ऐसी क्षमता
मुझको मिलती
योगी होकर मैं साधे हूँ
सम्भोगी मन रह-रह कँपता

6-12-1985

वही घर है

वही घर है
वही मैं हूँ
अब नहीं वह घर रहा
अब नहीं मैं वह रहा
जो हुआ
वह कह रहा
अनकहा सब सह रहा

21-3-1986

जितने दिन जीना है

जितने दिन जीना है
अपने इस जीने को,
खम्भ फाड़कर जीना है

देह ढले,
या उठें उसाँसें,
इस जीने को
सौ-सौ मन से जीना है

खून गिरे,
या चुए पसीना,
इस जीने को
मौत मारकर जीना है

5-5-1986

मैं समय को साधता हूँ

मैं
समय को साधता हूँ
जिन्दगी से बाँधता हूँ

मैं
नयन में
सूर्य की
आलोक आभा
आँजता हूँ

ब्याल जैसे काल को मैं
चेतना से
नाथता हूँ

काव्य की
मउहर बजाते,
लोक-लय में नाचता हूँ

द्वन्द्व में
निर्द्वन्द्व रहकर
मैं निरन्तर जागता हूँ

7-5-1986

आई माँ की याद

आई माँ की याद
और आँखें भर आयीं
उन्हें गये हो गये बहुत दिन, बरसों बीते !

होतीं तो वह जर्जर होतीं,
मुँह में दाँत न होते,
हाथ-पाँव-सिर हिलते;
बिना सहारा बैठ न सकतीं,
सिकुड़ी-सिमटी रहतीं
बुद-बुद करतीं—
बोल न सकतीं;
अपनी बूढ़ी देह टोहतीं;
रो-रो पड़तीं;

इनके आँसू मुझे पोंछने पड़ते;
पाँव दाबता-दर्द मिटाता—
मैं समझाता, धैर्य बँधाता;

सिर पर मेरे हाथ
फेरतीं;

मुझ बूढ़े को बूढ़ी अम्मा
गले लगातीं-
चूम-चूमकर मुझे प्यार से
बलि-बलि जातीं

आज याद में उन्हें जिलाये
उनकी पद-रज शीश चढ़ाये,
रोते-रोते
मैं हँसता हूँ
अपनी आयु भुलाये

19-5-1986

देह से जुड़ा

देह से जुड़ा
जी रहा हूँ मैं
चेतना की सृष्टि,
इन्द्रियों को जीवन्त बनाये,
दायित्व के निर्वाह में लगा,
सूर्योदयी मुसकान अपनाने के लिए,
सौन्दर्य को चूम पाने के लिए,
अर्थाघोष से घहराने के लिए,
मनोभूमि की जड़ता तड़काने के लिए,
मानवीय-बोध की फसल उपजाने के लिए,
रम्य रचनाओं की सम्पदा सरसाने के लिए

6-7-1986

हाँक रहा

हाँक रहा
मन-मीत महावत
तन का बूढ़ा हाथी,
जो बढ़ता है
हाँफ-हाँफकर आगे,
झेल-झेलकर
महाकाल की आँधी

प्रबल
प्राण के बल-बूते पर
जीवन की लय साधे,
अभी न टूटे
ऐसी आशा बाँधे

24-8-1986

दे चुका

दे चुका,
अब और
देता जा रहा हूँ
चेतना का देय अपना
सत्य के भाषित—
नये जन-जागरण को मुखर करता,
गहन गहरे
समय-सागर में
उठाता हुआ लहरें
पूर्णिमा का चन्द्रमा जो चूम आयें,
लौट आयें
फिर धरा पर,
आदमी की जिन्दगी को
चेतना से झनझनाएँ

25-8-1986

मरते दम तक

मरते दम तक
न मरने का इतमीनान लिये,
जीता रहूँगा मैं—
जागता रहूँगा मैं

जीते-जागते
सत्य को साधते-साधते
चेतना को साधता रहूँगा मैं

अंधकार को-असत्य को
प्रेम की प्रखर धार से
काटता रहूँगा मैं

न्याय-नय से
लोक में
आनन्द सबको
बाँटता रहूँगा मैं

2-9-1986

न होने की ओर अब

न होने की ओर अब
चली जा रही है मेरी नाव
समय के प्रवाह में अदृश्य होने के लिए

देर हो या सबेर
होना यही है
होकर रहेगा यह होना

तब भी अजेय है
मेरी नाव का नाविक चेतन में
मानवीय जीवन में व्याप्त-विद्यमान,
सत्य की अभिव्यक्तियों से
परास्त करता महाकाल को
भविष्य के भास्कर प्रवाह की
निरन्तरता अपनाये

6-6-1986

में नदी में डूबकर भी

में
नदी में डूबकर भी
नहीं डूबा

निकल आया
साथ लाया
में नदी को

अब नदी
कवि की नदी है
बह रही छवि की नदी है

जिन्दगी
लहरा रही है
मौत का पहरा नहीं है

12-10-1986

सोचते-सोचते सोचता रहता हूँ मैं

सोचते-सोचते सोचता रहता हूँ मैं
आदमी होने की
दिशा और दृष्टि
खोजता रहता हूँ मैं;
अहं में पैटे
'द्वयात्म' को दोहता रहता हूँ मैं;
अनखुले सत्य को
ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में
खोलता रहता हूँ मैं

टक्कर खाते-खाते भी
टक्कर देता रहता हूँ मैं
बूझ और अबूझ की
सीमाएँ तोड़ता रहता हूँ मैं

कर्म और कृतित्व के मोरचे पर डटे-डटे
लोक और आलोक की
बानी बोलता रहता हूँ मैं

2-1-1987

न कुछ हूँ

न कुछ हूँ-
फिर भी हूँ-
छिहत्तर साल का बूढ़ा;

न परास्त हुआ परबल से
न महाकाल के छल से

अजेय खड़ा मैं
पहलवान झूठ से
लड़-लड़ पड़ा मैं

प्रिया ने-
कविता ने
मुझे आदमी बना दिया
जीवन को
ज्योति की तरह मैंने जिया

21-2-1987

सोचते-सोचते

सोचते-सोचते

रात भर सोचता रहा मैं :

आदमी के होने-न-होने का अर्थ,

संसार के होने-न-होने का अर्थ

द्वन्द्व की लड़ाई का अर्थ

देश और काल के सन्दर्भ में,

खोजता रहा मैं

जाल-जंजाल से जूझता रहा मैं;

कथनी और करनी का

सत्य संज्ञानी अर्थ बूझता रहा मैं;

भीतर की-बाहर की ग्रन्थियों को

चुपचाप खोलता रहा मैं;

आलोकित सूर्य के आने की

बाट जोहता रहा मैं

24-3-1987

बहुत कुछ चाहते-चाहते

बहुत कुछ चाहते-चाहते
तम और प्रकाश को चाहते-चाहते,
आस्था की प्रलम्ब बाहें फैलाये रहा मैं-
पुरुषार्थ के परार्थी पाँव बढ़ाये रहा मैं-
दृढ़ातुर रहा मैं-
कर्मातुर रहा मैं-
पुलकातुर रहा मैं-
अप्राप्य को
पाने-अपनाने के लिए;
द्वन्द्व की लड़ाई में हार न जाने के लिए;
कविता को कंठ से लगाये रह पाने के लिए;
गौरव-गुन-गरिमा से
शब्दों के शासन का
लोक-तंत्र रच पाने के लिए

25-5-1987

आज तो मैं

आज तो मैं
भैरवी के साथ एकाकार होकर,
सूक्ष्म संवेदन मुखर हो
श्रुति-मधुर लय-तान से बजने लगा,
राग-रंजित
रूप-रस की रागिनी रचने लगा,
चेतना से
दिग्दिशाएँ संवलित करने लगा,
मेदिनी को
मुक्त मानव-मोद से भरने लगा

7-8-1987

पत्र मिला तो लगा कि जैसे

पत्र मिला तो लगा कि जैसे
बाँदा आया मेरे पास
महानगर मदरास में,
लेकर नागरिकों की प्यास

देखा मैंने सब मुँह बाये अकुलाये हैं—
तन से विचलित
मन से विचलित
नगर-निवासी घबराये हैं,
किसी तरह से प्राण बचाये सब हैं त्रस्त,
ताप-दाप से ग्रस्त

उन्हें चाहिए
पानी-पानी-पानी की बरसात
मैं घबराया-रोया;
रोते-रोते मैंने धीरज खोया

कविताओं ने छूकर मुझे कुरेदा,
मेघराज के लिए संदेशा मैंने भेजा—
जाओ, बरसो वहाँ झमाझम पानी
कर दो बाँदा पानी-पानी;
प्यास मिटे,

जनता सुख पाये
तरल कंठ से गीत सुनाये

उत्तर देता हूँ, अब लिखना
पहुँच गये क्या बादल?
बरस रहे क्या बादल?
प्यास बुझी अथवा प्यासा है
अब भी बाँदा?
मेरे जीवन का सहभागी बाँदा

31-7-1987

समय को पीता हूँ मैं क्षीर की तरह

समय को पीता हूँ मैं क्षीर की तरह
समय पीता है मुझे नीर की तरह
समय को जीता हूँ मैं भोर की तरह
समय जीता है मुझे चोर की तरह

न चुका समय
न चुका क्षीर
न चुका नीर
न चुका भोर
न चुका चोर
न चुका जीना
न चुका पीना

24-8-1967

पंख पा गयी मृदंग की आवाज

पंख पा गयी मृदंग की आवाज,
बोलती चिड़िया
आकाश में उड़ गयी

सुन्न
और सपाट है जमीन,
गोद में लिये मृदंग,
लाड़ले का मौन भोगती!

1-9-1967

महाकाल बरजोर!

महाकाल बरजोर!

तुझे न आने दूँगा अपने घर के पास

मेरे प्यारे प्राण-पहरुये पेड़

परम साहसिक और समर्थ

बली महान

बृषभ समान

अडिग खड़े हैं

झूम-झूम करते ललकार,

लगातार करते हुंकार,

अपने पैने शृंग उठाये,

तुझे पराजित करने को तत्काल

करना नहीं प्रयास कदापि!

करना नहीं प्रमाद कदापि!!

मेरे बाड़े के भीतर घुस आने का,

मेरे तन को क्षीण समझकर ले जाने का

वे कर देंगे विफल प्रयास,
वे हर लेंगे सकल प्रमाद
उनकी चौकस नाकाबंदी तो अभेद्य है,
वे कर देंगे ध्वंस
हर प्रकार के तेरे वार;
तेरी हिकमत कर देंगे बेकार;
तू निश्चय जायेगा हार

सुन ले रे तू महाकाल बरजोर!
अभी मुझे जीवित रहना है कई साल तक,
प्रिया-प्रियम्बद की छवि को अपनाये
उनकी याद जिलाये

प्यार-प्यार से
परिप्लुत करना है संसार,
कविताओं से हरना है भू-भार
जनता को देना है जीवित सुमति-विचार

मैं कहता हूँ;
नहीं मरूँगा-नहीं मरूँगा कई साल तक
जीवन को जीते दिन-रात,
पुष्ट बनाये अपना गात
और चेतना को निर्भ्रान्त नितान्त

बड़ा घातक और खतरनाक
छलिया है तू

महाकाल बरजोर!
कि जान कर भी
अजान बना रहता है तू
सत्य-संज्ञान से-
अपनी करनी के दुष्परिणाम से;
न सोचता है-न समझता है तू
न बुद्धि का प्रयोग करता है तू;
न विवेक से काम लेता है तू-

तभी तो
अत्यधिक अमानुषिक होते हैं
तेरे अधिकांश कार्य
तभी तो तू हो गया है बुरी तरह से बदनाम

तभी तो अब मैं करता हूँ तुझे आगाह
कि न देखना मेरी ओर टेढ़ी नजर से
अभी बरसों,
न करना मुझ पर प्रहार

जान ले, समझ-बूझ ले महामूढ़
कि मरणधर्मी होकर भी अमर्त्य हूँ मैं,
कि चेतना की चिरायु सृष्टि का
सर्जक कवि हूँ मैं
कि देहावसान के बाद भी
जीवित रहूँगा मैं
अपनी चेतन सृष्टि को
समग्र चेतन-सृष्टि का अंश बनाये

भले ही,
मात्र जैविक जीनेवाले,
चेतन सृष्टि न रचने वाले,
मर जायें
तेरी मार के मारे;
लेकिन
न मरूँगा मैं,
न मरूँगा मैं
अदेह होकर भी न मरूँगा मैं,
सदेह कविता में,
सदेह होकर जीवित रहूँगा मैं—

इसीलिए तो कहता हूँ मैं
न आना मेरे पास
अभी बरसों तक;
सतेज और सक्रिय है अभी
मेरी चेतना पूर्ववत्,
शिथिल भी हो रहा मैं
अशिथिल हूँ शरीर को सक्षम साधे,
अनवरुद्ध
निरन्तर करते रहना है मुझे
प्राणपन से कविताओं का सृजन
अब भी—आज भी—कल भी—
बरसों—बरसों तक

न आना मेरे पास—न आने का विचार करना अभी
महामूढ़
महाकाल बरजोर!

चिरायु है कविता!

चिरायु हूँ मैं

जानता हूँ मैं,

पूरी तरह प्रमाणित मानता हूँ मैं,

न जीव है तू,

न प्राणी है तू,

न व्यक्ति है तू,

मात्र प्राकृत नियम है तू,

‘होने’ के साथ न ‘न होने’ का नियम मात्र है तू,

इसलिये अटल और अनुलंघनीय है तू,

सृष्टि के विकास-क्रम के लिए अत्यावश्यक है तू;

चालू रहेगा ‘होने’ का नियम हमेशा-हमेशा,

चालू रहेगा ‘न होने’ का नियम भी हमेशा-हमेशा

एक ओर चलता रहेगा

पुरातन का प्रयाण-

जीर्ण-शीर्ण का विनाश

दूसरी ओर चलता रहेगा

नये का निर्माण-

दिगन्ती-प्रसार

सत्य है यही-

द्वन्द्व का निष्कर्ष है यही

नियमानुसार होता रहेगा यही

आरम्भ में

‘न होने’ के नियम का नियंता

मान लिया आदमियों ने तुझे,
संज्ञापित कर दिया—कह दिया 'महाकाल' तुझे,
तू पा गया व्यक्तित्व—
हो गया नाश और हास का
शक्तिशाली कर्ता,
हो गया अजर और अमर

सम्बोधित करता हूँ मैं तुझे महाकाल इसीलिए तो
कि मैं हो रहा हूँ 'होने' में अब भी—
कि मैं जी रहा हूँ जीने में अब भी,
'न होने' की ओर नहीं जा रहा अब भी
न तन त्यागता है चेतना को,
न चेतना त्यागती है तन को

विद्या, बुद्धि, बल और विवेक का धनी मैं
अब भी धनी हूँ इन सब का;
प्रिय है मुझे संसार,
प्रिय है मुझे संसार का सुख-दुख भोग,
प्रिय है मुझे द्वन्द्व-द्वन्द्व का समर-संग्राम,
प्रिय है मुझे
मनोमंथन
सत्य को प्राप्त करने के लिए;
प्रिय है मुझे सम्बद्ध होना
आदमियों से—
आदमियों के कार्य-कलाप से;
प्रिय है मुझे आबद्ध होना
वनस्पतियों से

प्रिय है मुझे अनंत छाया-छवियों से
संपृक्त होना;
प्रिय है मुझे प्रकृति का प्रगाढ़ परिरम्भण;
प्रिय है मुझे सृजन-धर्मिता-
कविताएँ लिखना-
नयी-से-नयी-
मानवीय मूल्यों को उजागर करने वाली-
सत्य और सौन्दर्य को
सृष्टि में प्रस्थापित करने वाली;
प्रिय है मुझे जीवन्त रहना-
संघर्षशील रहना;
ललक और लालसा से परिप्लुत रहना;
अब भी तरेरता रहता हूँ मैं, कुपित होता रहता हूँ मैं,
उस सब के विरुद्ध असंतोष व्यक्त करता रहता हूँ मैं
शोचनीय है जो-जघन्य है जो, अनैतिक है जो,
अमानवीय है जो-जड़ और जठर है जो,

तभी तो कहता हूँ तुझसे बरजोर महाकाल!
दूर-से-दूर-
बहुत-बहुत दूर
तुझे रहना है मुझसे,
नहीं ले जाना अभी तुझे,
'न होने' की ओर मुझे
जरूरी है अभी और अभी और मुझे जीना,
जरूरी है अभी और अभी और मुझे यहाँ बने रहना

जरूरी नहीं है मेरा प्रयाण करना—
संसार में नहीं रहना,
जरूरी नहीं है तेरे लिए मुझे संसार से अलग करना—
देह और चेतना को
एक दूसरे से विलग करना—
आड़े नहीं आता
'होने' 'न होने' के विरुद्ध मेरा जीना

यह जो कहा मैंने
यों ही नहीं कहा मैंने

न समझना मेरे कहे को तिल का ताड़,
न समझना उसे तूलतबील

जो कहा मैंने ऊपर, पहले,
सावधान करने के लिए कहा मैंने
कि बुढ़ापे में, अब न करना मेरे साथ
पहले जैसा दुर्व्यवहार—
पहले जैसा उपक्रम—
पहले जैसा षड्यंत्र,
कभी, एक भी बार, भूलकर भी

अतुलनीय निर्मम आततायी रहा है तू,
महाकाल बरजोर!
कि मेरे ही पीछे पड़ा रहा तू रात-दिन हाथ धोकर,
तरह-तरह से नेस्तानाबूद करने के लिए मुझे

सुन तो शठ ! मेरी कही सुन,
एक-एक करके सुनाता हूँ तुझे
पाँचों घटनाएँ सिलसिलेवार,
दिलाता हूँ तुझे याद सविस्तार

बरबस मार डाला था तूने मेरे बड़े भाई को-
अम्मा के पहलोठी दुलरवा को-
पैदा होने के फौरन बाद;
रोते-बिलखते, हाय-हाय करते
मन मारकर रह गये थे
मेरे परिवार के सदस्य बूढ़े, जवान,
नौकर-चाकर;
आसपास के सहृदय मिलनसार लोग :
ठीक ही बतायी थी अम्मा ने यह बात;
झराझर झराझर झरते चले जाते थे उनके आँसू
बात कहते-कहते, भर आये कंठ से;
न भूल पाया मैं उनकी करुण कहानी;
अब तक-अब तक, उनकी बखानी

तदुपरान्त, पैदा हुआ मैं
जीने-जागने के लिए संसार में आया,
परिवार में उल्लास और हर्ष का मौसम छाया,
यह भी न देखा गया तुझसे

कर दिया तूने मुझे
'देवी माता' के प्रकोप का भाजन,
पूरे शरीर में निकाल दिये तूने

एक-से-एक बड़े फफोले
मरने-मरने लग गया था मैं;
न स्तन-पान कर पाता था मैं;
न उठ-बैठ पाता था मैं;
मुरदार-मरियल हो गया था मैं;
रुई के गालों पर लिटाये रहते मुझे, मेरे माँ-बाप-बाबा;
रात दिन जाग-जागकर वे
जी-जान से जिलाये रहे थे मुझे;
चलती धुकधुकी देख-देखकर
मेरी साँस के आवागमन से हर्षित होते,
बोलते-बतियाते, आपस में खुश होते थे वे

बच गया मैं,
जी गया मैं,
हरेक की आँख का तारा बन गया मैं;
सबके प्राणों का प्यारा बन गया मैं;
माँ ने मुझे यह सब बताया,
और बताते-बताते
उनने मुझे बारम्बार
अपनी उमहली छाती से लगाया,
प्यार-प्यार से दुलराया

फिर, उबटन और मलाई से
देह की मालिश होती रही,
रोज-रोज, महीनों-महीनों;
चढ़ने लगी चिकनाई;

दूध मलाई पीते-खाते पुष्ट हुआ मैं,
मितने लगे देवी-माता के दाग,
गौरवर्णी चमक उठा मैं,
हँसते, खेलते-कूदते बढ़ने लगा मैं,
गाँव-घर में व्याप गया मैं,
खेत-खलिहान के चक्कर काटने लगा मैं,
प्यार से पशुओं को-चिड़ियों को सराहने लगा मैं,
कूदते किलोल करते हिरनों की
बड़ी-बड़ी आँखों में
डूबता उतराता रहा मैं,
पेड़ों के आसपास,
झाड़ियों के इर्द-गिर्द
जाता और झूम-झूम सुख पाता रहा मैं;
आसमान धरती का नेह पिये गाता रहा मैं,
गुनगुनाता रहा मैं

फिर, एक साम्प्रदायिक दंगे में
ढकेल दिया तूने मुझे,
बाल-बाल बच निकला मैं अमानुषिक अत्याचार से,
माँ-बाप को जीवित मिला मैं
धन्य हुए वे
जबलपुर में हुआ था ऐसा बहुत पहले
सन् सत्ताइस-अट्ठाइस में

तीसरी घटना घटी चित्रकूट में,
लड़कपन में गया था जहाँ सन् उन्तीस में मैं;

घाट पर बैठा, पाँव लटकाये
पयस्वनी में, नहा रहा था मैं,
जानता नहीं था तैरना—
साथियों को भ्रम था कि तैरना मुझे आता था,

खींच लिए एक ने मेरे पाँव,
सत्य से सामना हुआ
बुकबुकाने लगा मैं;
मुश्किल से पा सका पाँव रखने को जमीन—
मारते-मारते हाथ,
छपछपाते-छपछपाते पाँव
बच गया मैं,
खड़ा हुआ मैं,
तेरे पास जाते-जाते रह गया मैं

चौथी बार यह किया तूने :
इक्के में सवार मुसलमान के
चल दिया नैनी पत्नी को लाने;
ताड़ लिया तूने,
षड्यन्त्र किया तूने,
पार करते ही जमुना का पुल
खतरे में डाल दिया तूने—
बौखलाये हिन्दुओं की पंक्तिबद्ध भीड़ में मुझे;
रोक लिया इक्के को हिन्दुओं ने,
भोंक दिया पेट में इक्के के मालिक के चाकू;
बारी अब मेरी थी,

सिर पर न चुटिया थी—न देह में जनेऊ,
तेरे ही इशारे पर भीड़ मुझे मारने को उतारू थी,
मेरा प्राण-पौरुष अब जागा,
जमकर वाक्-युद्ध किया मैंने;
हिम्मत नहीं हारी;
जीत गया बाजी, प्राण बचे मेरे,
और तुझे मिल नहीं सका मैं

इतने से समाप्त नहीं होती है गाथा
आगे की बताता हूँ, सुन,
बात है बिल्हरका की—गाँव के टीले की—
तूने मुझे लाठियों से खूब पिटवाया था,
मेरा सिर फोड़वाया था,
मेरा तन, चोटों से घायल करवाया था,
यह भी मैं झेल गया वहाँ

तेरे पास आने से बच गया धूर्त!
तू तो खिसिया गया, मुँह बाये रह गया
खिन्न-हताश और हारा

और फिर, एक बार तूने मुझे
मारने की साजिश की,
पीलिया से ग्रस्त किया तूने मुझे,
बुरी तरह पस्त किया तूने मुझे;
बूँद-बूँद पानी को तरसाया तूने,
एक-एक दाने को तरसाया तूने,

क्षीण-क्षीण होता गया-होता गया मैं
लाले पड़े जान के, कसाले पड़े त्राण के,
जीना दुश्वार हुआ

बाँदा से इलाहाबाद लाया गया मुझको,
दवा की हकीम ने,
मूली के पत्तों का रस मिला पीने को,
इमली का पना मिला पीने को;
लाभ हुआ मुझको,
पीने लगा पानी मैं,
खाने लगा खाना मैं,
धीरे-धीरे स्वस्थ हुआ मैं,
जीवन फिर पा गया मैं,
जीने लगा पूर्ववत् प्रसन्न,
हार हुई तेरी,
मात खाई तूने!

जानता हूँ मैं :
न तप किया है तूने,
न वरदान प्राप्त किया है तूने,
न अमोघ अस्त्र है तेरे पास,
न ब्रह्मास्त्र है तेरे पास,
निहत्था है तू
निहत्था हूँ मैं,
आतंक मात्र है तेरे साथ,
और कुछ नहीं है तेरे साथ,
भयंकर भ्रान्ति के वशीभूत दुनिया

व्यर्थ ही तुझे मानती है
मारक शक्ति-सम्पन्न,
और टेक-टेककर घुटने,
नत शीश होती रहती है तेरे सामने,
तुझसे बचे रहने के लिए—
'न होने' की ओर न जाने के लिए

मैं नहीं हूँ इस भ्रान्ति का शिकार,
न तेरे आतंक का शिकार,
न टेकूँगा घुटने तेरे सामने,
न सिर झुकाऊँगा तेरे सामने;
'होने' में होता रहूँगा चेतन,
जीता रहूँगा निर्द्वन्द्व,
सुख-दुख भोगते-भोगते,
सत्य की नब्ज टोहते-टोहते,
कर्म और कृतित्व से मोहते-मोहते

जानता हूँ मैं
यह भी भलीभाँति;
'न होने' के बाद भी
होऊँगा मैं 'होने' में
कविताओं के अपने सृजन में,
चेतना की सृष्टि में

जानता हूँ मैं
यह भी खूब अच्छी तरह से;

‘न होने’ का प्राकृत नियम
नहीं लागू होता मेरे ऊपर
क्योंकि मैं हूँ
चिरायु चेतना की सृष्टि का
चिरायु कवि,
मर्त्य भी अमर्त्य,
न करना मुझे ले जाने का
उपक्रम मूर्खाधिराज महाकाल बरजोर !

(6-12-1987 से 13-12-1987)

न चाहने के मन से उसे चाहा

न चाहने के मन से उसे चाहा
और याद किया मैंने
और वह आ गयी;
कविता वह मेरी हुई
और मुझे भा गयी

मैंने उसे प्यार किया-प्यार दिया
उसने मुझे प्यार किया-प्यार दिया
दोनों ने साथ-साथ प्यार जिया
दोनों ने दुनिया को प्यार किया-
प्यार दिया-
प्यार से सँवार दिया
और इसी दुनिया में
जीवन को चेतन निखार दिया

16-12-64

वह कविता नहीं बोधते

वह कविता नहीं बोधते
-कागज गोदते हैं;
वह कविता नहीं टोहते
-आखर टोहते हैं;
वह कविता नहीं रोपते
-जंगल रोपते हैं;
वह कविता नहीं पोसते
-गोबर थोपते हैं;
वह कविता नहीं घोलते
-घपला घोलते हैं;
वह कविता नहीं खोजते
-रमणी खोजते हैं

8-4-1986

वह जो लिखते हैं

वह जो लिखते हैं
अजब और अजूबा लिखते हैं;
लिखते नहीं—
कलम की चोंच को
शब्दों की समाधि पर घिसते हैं;

घिसते नहीं—
मौत को बोलने को कुरेदते हैं
बोलती मौत के बोल
शिल्प के साथ कविता में बिखेरते हैं,
जिन्दगी को
जीते नहीं
रूपोश करते हैं

9-6-1986

मैं गाऊँ या कभी न गाऊँ

मैं गाऊँ या कभी न गाऊँ,
मैं रोऊँ या कभी न रोऊँ,
मैं जागूँ या कभी न जागूँ,
मैं सोऊँ या कभी न सोऊँ,

यारो !
पक्षी गायेंगे ही
यारो !
बादल रोयेंगे ही
यारो !
जुगनू जागेंगे ही
यारो !
मुरदे सोयेंगे ही

चलते-चलते अब कहता हूँ :
अपने शब्दों में रहता हूँ,
अपने शब्दों को सहता हूँ,
तब कविताएँ
मैं रचता हूँ

वे 'सच' छोड़ नहीं सकती हैं-
वे 'सच' तोड़ नहीं सकती हैं-
मोड़ दनुज-दल को सकती हैं-
जोड़ मनुज-दल को सकती हैं-

1-6-1986

बहस जारी है

बहस जारी है,
भयंकर महामारी है
काव्य को बचाने की बारी है
डाक्टरों में
मतभेद भारी है

1-9-1986

वे अपने ही

वे अपने ही
आत्मकुंड में
अपना ही प्रतिबिम्ब निरखते,
अपने को ही
बिम्ब-विधाता-
मौलिक रचनाकार
समझते
अपने को ही
घोषित करते
प्रतिभावान महान

14-8-1987

किताब में सोयी कविता

किताब में सोयी कविता
न तन जानती है
न मन;
न दिन जानती है—
न रात

अर्थाभिषिक्त देह
न मुँह खोलती है,
न मौन तोड़ती है

अनवगत अस्तित्व
अनवगत है
काल और कला से

इंतजार में है
और नहीं भी है
प्रेमी-पाठक के

न खुली किताब
ज्यों की त्यों पड़ी है
न हाथों ने छुआ
न खोला
न आँखों ने देखा

21-8-1987

जग उठी, सोयी कविता

जग उठी, सोयी कविता
महीनों बाद,
किताब खुलते ही

खिल उठा—
शब्दों का
आत्मगंधी कमल,
लावण्य के लय की
पंखुरियाँ
पुलकाये

सुख-विहार
करते हैं
इन्द्रियों के देवता,
नेह की नदी में—
नाव चलाते—
यथार्थ से
कतराते

8-9-1987

नागार्जुन कवि हैं

नागार्जुन कवि हैं
कवि आदमी होता है
नागार्जुन आदमी हैं
आदमी और भी हैं
फिर भी आदमी नहीं हैं वे
नागार्जुन ऐसे आदमी नहीं हैं

नागार्जुन पति हैं
पत्नी से जीते हुए नहीं—
'अपराजिता' से हारे हुए पति हैं

नागार्जुन बाप हैं
फक्कड़ बाप हैं
घुमक्कड़ बाप हैं
बेटों पर कभी-कभार छतुरी तानते हैं
जो बहुधा उड़ जाती है
नागार्जुन उड़ी छतुरी के पीछे नहीं भागते
आशीष की छाया बेटों पर डालते हैं
'मंत्र' मारते पेट पालते हैं नागार्जुन

नागार्जुन हँसोड़ हैं
दूसरे भी हँसोड़ हैं

पर वैसे नहीं हैं वे
जैसे बेजोड़ हँसोड़ हैं नागार्जुन;
कोई दूसरा नहीं है उनके जैसा
हँसोड़ होकर भी; जिये तो वैसे
जीते हैं जैसा नागार्जुन

नागार्जुन व्यंग और विद्रूप की मार करते हैं,
दिन-रात दूसरों का विष पिये रहते हैं

नागार्जुन दोस्त हैं
आज के नहीं-पहले के
जनता के भले के

14-6-1986

आये ¹

आये
गये
-रहे तुम केवल
आठ दिनों तक
मेरे पास

मैंने तब तक
रोज बजाया
अपने भीतर
मोद-मृदंग

सुख की सीढ़ी
चढ़ी चेतना,
काव्य-लोक में
पहुँची, नाची;
शब्द-अर्थ की
देह धरे,
गूँजे
छंद अमंद
सनेह भरे

10-10-1986

¹. रामविलास के 14-9-1986 से 22-9-1986 तक रहने के बाद

हे मेरी तुम!

हे मेरी तुम!
देखो-देखो
इंतजार में खड़ा हुआ है अपना गेंदा,
आतुर,
फूला हुआ अकेला
प्यार-पुलक से हुआ केसरिया

सूर्य-लोक से
आने को है
इसे भेंटने
घूँघट खोले
भुवन-मोहिनी
धूप गुजरिया

12-1-81

वहाँ¹

वहाँ—

अस्पताल से अलग
मैदान में खड़े हैं पास ही पास
नारियल के बड़े पेड़
हुलास से हुलसे
प्रकृति को हुलसाये;
हवा में हिलते;
मदरास को
हरा बनाये,
एक-दूसरे को
प्यार से अपनाये

21-11-1985

1. 'विजय' अस्पताल, मदरास के कमरा नं० 222 की खिड़की से देखकर

आज

आज,
धूप कुछ-कुछ निकली है !
महानगर के भवन हठीले
खड़े-खड़े अब चूम रहे हैं
कुछ-कुछ निकली धूप

अब भी सड़कें
भोग रही हैं
लेटे-लेटे
मैला, गँदला, छिछला जीवन
उथले पानी को पतियाये

अब भी, आकर
घेर-घेर लेते हैं बादल
सूरज का मुख-मंडल

सिसक-सिसककर,
रो-रो पड़ती
हतप्रभ धूप,
लावारिस बिटिया हो जैसे
आसमान की

15-1-1986

आसमान को घेरे-छाये

आसमान को घेरे-छाये
काले-काले, भूरे बादल
चार दिनों तक
बरबस बरसे

आज,
तीसरे पहर
फटे हैं,
और दृष्टि से दूर हटे हैं

चमका है तेजस्वी सूरज,
जी भर जैसे
आज हँसा है

निर्मल धूप
धरा पर उतरी,
पारे जैसी
चमचम चमकी

महानगर रमणीय हुआ है

यश-वैभव से
दमक उठा है

मुझ दुखिया को
प्राण मिला है,
टूट गयी अब शाप-शिला है

15-1-1986

वृद्ध पेड़ के

वृद्ध पेड़ के
पत्ते फिर-फिर
नये निकलते
नये-नये फिर सुख-दुख सहते
सहते-सहते
वृद्ध पेड़ को जीवित रखते

16-2-1986

पेड़ खड़ा

पेड़ खड़ा
पत्ते गिरते हैं
गिरते पत्ते उड़ते रहते
उड़ते पत्ते
वृद्ध पेड़ के
अनुभव कहते
कहते पत्ते मिटते रहते

16-2-1986

खूब फूली खड़ी है

खूब फूली खड़ी है
रंगारंग हुई,
मेरे आँगन की
बोगनबेलिया

झाँकता देखता है
उल्लसित हुआ सूरज
मेरी बोगनबेलिया को,
पहने है जो
तुहिनमाल का नौलखा हार
झूलती झूमती जो
मनाती है
बसन्तोत्सव

मैं भी,
प्रिया-प्रियम्बद की याद में,
झूलता-झूमता
विमुग्ध देखता हूँ
रंगारंग हुई बोगनबेलिया को

प्यार की वारुणी पिये
अप्राप्य को प्राप्त किये,
महाकाल को परास्त किये,
मर्त्यलोक में
अमर्त्य जीवन जिये

15-2-1987

दिन भर रहे

दिन भर रहे,
न गरजे-तरजे;
छाये रहे छिपाये सूरज
शाम हुए तक

रात हुई
तब सन्नाटे में
बीर-बहादुर बादल कड़के,
बैकल बिजली
उछली कूदी,
घर-आँगन की काया काँपीं,
डरे, जागकर रोये लड़के

15-2-1987

नीलसिंधु के ऊपर

नीलसिंधु के ऊपर
आसमान के नीचे
पंख मारती
देश-काल के भीतर उड़ती
क्षितिज छोर की ओर
चली जाती है टिरटिर करती
निपट अकेली एक टिटिहिरी विरह-विदग्धा
देख रहा हूँ : छोटी होते-होते उसको
ओझल होते

मात्र टेर बन जाते;
गूँज-गूँजकर
हिय की हलचल से कल्लोल मचाते,
मेरे प्यार-पयोनिधि में
करुणा का ज्वार उठाते,
मुझे प्रिया की याद दिलाते,
ओझल होकर द्रवित बनाते,
महानगर की माया को
झुठलाते

6-8-1987

दिनदहाड़े

दिनदहाड़े
मारे डालती है
जून की जलजलाती धूप
राह चलते आदमियों को
गाँव-घर के—
नगर के निवासियों को
डील के डोलते जानवरों को
प्यार के पंख तोलते पखेरुओं को
पेड़ के पहरुओं को,
गान गाते भौरों को
फूले सिरमौरों को

पता नहीं
कब आयें
अम्बर में छायेँ
मस्ती से पानी बरसायेँ
सब को हरसायेँ
बरखा के बादल?

7-6-1987

जब से आया महानगर में

जब से आया महानगर में
तब से अब तक
यहाँ न आई एक बार भी मुझसे मिलने
भुवन-मोहिनी चटक चाँदनी

रात-रात भर जाग-जागकर,
शुक्ल पक्ष में,
मैंने उनको
प्यार-प्यार से बहुत पुकारा;
कुछ न हुआ-मैं हारा

सुनता रहा हृदय की धड़कन,
टूट रहे धीरज की कड़कन,
मैंने भोगा आकुल अंगों का उत्पीड़न

यह रहस्य मैं समझ न पाया,
मुझे प्रकृति ने बहुत सताया

इतने पर भी
नहीं विरागी हुआ
चाँदनी के बिछोह में,
जीवन जीता हूँ अनुरागी
बंधकर
जागृत मनुज-मोह में

9-8-1987

नदी ने बरसों

नदी ने बरसों
जिसे प्यार किया,
मिलन के लिए
जिसका रोज
इन्तजार किया,
पाकर जिसे तृप्त काम किया
अब
आज
उसी की लाश लिये बहती है,
विरह-विलाप का
शोक-संताप सहती है,
किसी से कुछ नहीं कहती है
करुणाकुल छलछलाती रहती है

21-8-1987

नदी को

नदी को
प्यार करता प्रेमी
नदी में सपत्नीक नहाता है

नदी को गुस्सा
न सौत पर आता है,
न प्रेमी पर

नदी का पानी
प्यार का
प्रवाहित पानी है;
न गुस्सैल है—
न ईर्ष्यालु है;
स्वभाव से
निर्द्वन्द्व
खिलखिलाता है,
शिलाओं की पीठ
सस्नेह सहलाता है

21-8-1987

फूल खड़ा है

फूल खड़ा है
सुखानुभूति से उल्लसित,
त्रिशूल शरीरी-
हरसिंगार का पेड़,
पल्लवित डालियों से
टपकाता-
अठदलीय
सफेद
कर्णफूल

खुश है
यथार्थ की जमीन
लॉन की घास

खुश है मेरा अन्तरंग
कविताओं की लपेट में
लिपटाये
हरसिंगार को

21-10-1987

धुआँ है

धुआँ है
कि ऊँचे-बहुत ऊँचे उठ रहा है !

झंडा-
आदमी का
हाथ का,
नीचे,
बहुत नीचे
शर्म से झुक रहा है

1965

न उगीं जहाँ कभी पहले

न उगीं जहाँ कभी पहले
लौकी और कुम्हड़े की बेलें,
उग आयीं अब वहाँ, नेताओं के घर,
अलभ्य अंगूर की
अनुकूल बेलें!

हम हैं कि अब भी खड़े हैं यहाँ—
ज्यों-के-त्यों-घर के बाहर,
कठोर कैथे के तले,
सिर-फोड़ फल पाने के लिए,
कचोटती
जिन्दगी बिताने के लिए

1965

हम जीते हैं

हम
जीते हैं
लैम्पपोस्ट का जीवन;
दिन भर सोते
और रात भर
जलते होते

1965

स्वार्थ सिद्ध होता है उनका

स्वार्थ सिद्ध होता है उनका
वैभव-विलास की आराधना में
आजन्म जीते हैं जो
छल-छद्म की साधना में

1965

कुछ है, इस जंगल में

कुछ है, इस जंगल में
सिवाय जंगल के,
जो आग है
आम आदमी के लिए
सिवाय सरकार के लिए;
जो न बुझी-
न बुझी-
भभकी-
फिर-फिर भभकी,
प्रतिकार के लिए-
अस्तित्व के अधिकार के लिए

25-10-1967

घड़े में

घड़े में
घुसा बैठा
चुप है घंटा!
न कोई खतरा—
न कोई टंटा!

कौन है जो दहाड़े
पहाड़ के आगे-पिछवाड़े!

26-10-1967

तृण हैं

तृण हैं
कि अटल खड़े हैं,
समय के शरीर पर
आधिपत्य से गड़े हैं!

29-11-1975

शोर है—जनाब!

शोर है—जनाब !
शहर के मुँह से निकला
मेढक है जनाब
समाचार पत्र के
प्रमुख पृष्ठ पर जो
टर्-टर् करते उछला!

5-12-1975

घर की घुटन में पड़ी औरतें

घर की घुटन में पड़ी औरतें
जिन्दगी काटती हैं
मर्द की मुहब्बत में मिला,
काल का काला नमक चाटती हैं

जीती जरूर हैं
जीना नहीं जानतीं;
मात खार्ती—
मात देना नहीं जानतीं

10-1-1980

देखे देश

देखे देश,
दिशान्तर देखे,
देखे ऊर्ध्व-अवान्तर देखे

मेघ अधर में लटके देखे—
प्राण विवर में अटके देखे

31-8-1980

‘सच’ अब ऐसा नासमझ हो गया है

‘सच’

अब ऐसा नासमझ हो गया है

कि ‘झूठ’ से भी बड़ा ‘झूठ’ हो गया है

‘झूठ’ की सड़क

अब सरकार की सड़क हो गयी है;

इस पर चलकर

आदमी की

कड़क खो गयी है

1-9-1980

ठहरो, ठाकुर, ठहरो

ठहरो, ठाकुर, ठहरो;
करो न मारामारी-
छौंक-बघारी
खून-खराबी ख्वारी!

आ धमकेगी पुलिस गाँव में;
बधियायेगी थानेदारी;
भूल जायगी
सिट्टी-पिट्टी सारी!

समझो, ठाकुर, समझो;
घर छूटेगा,
जेल मिलेगा;
उतर जायगी चढ़ी खुमारी;
खर्च-खर्च में
बिक जायेगी बखरी-बारी;
मर जायेगी,
रोते-रोते,
विह्वल,
बूढ़ी महतारी!

चेतो, ठाकुर, चेतो;
अब तो
लाठी-बल्लमदारी-
सामन्ती सुरधाम सिधारी;
नरक-भोगती
लम्बरधारी !

11-4-1981

देह में देशी

देह में देशी
देश में विदेशी है,
शहर से आया
गाँव में गनेशी है

21-1-1982

लम्बान में लम्बे हुए

लम्बान में लम्बे हुए
चीरते चले जाते हैं
समयाकाश की दूरी,
नारियल के
महत्वाकांक्षी
दंड देहधारी पेड़
आदमियों के लिए
फलीभूत हुए
निरपराधवृत्ति अपनाये

5-12-1985

गया 'पचासी'

गया 'पचासी'

हमसे-सबसे पीठ फेरकर;

छोड़ गया अनकिया बहुत-कुछ, अपने पीछे,

नये साल के करने को-

देश-काल की चिन्ता-विपदा हरने को;

समर-विरोधी,

शान्ति-समर्थक

राजनीति की रचना रचने को;

रक्त-पात से बचने को,

जन-जीवन को प्यार-पुलक से भरने को

कुटिल, कटीली, कष्ट-प्रदायी

रीति-नीति से पीड़ित जनता

स्वागत करती

नवोल्लास से

नये साल का,

इस आशा-उत्साह से;

जो दिखता है परम असम्भव

वह सम्भव हो पायेगा,

संकुल संकट कट जायेगा

1-1-1986

हरेक जीता है यहाँ, समाज में,

हरेक
जीता है यहाँ, समाज में,
अपनी जीभ का अपना जीवन,
बत्तिस दाँतों के बीच,
वैयक्तिक व्यवस्था की सुरक्षा में
जहाँ खड़े हैं वे
मसूढ़ों में गड़े,
बाहरी हस्तक्षेप के खिलाफ,
मौखिक महत्ता के प्रति समर्पित,
मंद्र-मार मुसकान मारते,
जंगली जनतंत्र का कौतुक निहारते

6-4-1986

मर्त्यलोक में

मर्त्यलोक में
'चन्द्रलोक' बनाते हैं
झोपड़ियों में नरकवास
करते लोग,
साधन-सम्पन्न
महाप्रभुओं के
स्वर्गवास करने के लिए

21-5-1986

‘सच’ अब नहीं रह गया ‘सच’

‘सच’

अब नहीं रह गया ‘सच’
घर-जमाई हो गया ‘सच’
अब झुठल्ले का

मोटा

तगड़ा

पहलवान हो गया ‘सच’

मुफ्त की मलाई खाए
दम्भ की दारू पिये,
बेईमान हो गया सच

जमीन-जहान को रौंदता
शैतान हो गया
‘सच’

28-5-1986

हम मर गए आपके लिए

हम
मर गए आपके लिए

आप
मर गए हमारे लिए

कहने को हमने ऐसा कहा,
कहने को आपने ऐसा कहा

न हम मरे आपके लिए
न आप मरे
हमारे लिए

मर गए होते तो
हम और आप
मसान में जले होते,
न हम यहाँ होते
न आप यहाँ होते

27-5-1986

सुनो

सुनो,
आओ चलें दिल्ली
रेल से नहीं—
पाँव-पाँव की
यात्रा करें
चन्द्रशेखर की तरह
बाबा आम्टे की तरह

पहुँचकर दिल्ली
पाँव पूज आयेँ
संसद के देवी-देवताओं के,
फूल चढ़ा आयेँ उनको;
चैन से
जीने का वर
माँग लायेँ

9-6-1986

मिलते नहीं वे

मिलते नहीं वे

मिलते-मिलते जब कभी मिलते हैं वे
चार-छै साल बाद,
दीपित दमकते हैं वे
एक ही दिए की
दो बातियों की तरह वे
कोठे का अँधेरा हरते हैं वे
उजाला करते हैं वे

जब बिछुड़ते हैं वे,
मुँह फेर लेते हैं वे
प्रकाश-पूरित संसार में भटकते हैं वे

टूट गये बटनों की तरह वे
खोयी-खोयी जिन्दगी में
खोये-खोये रहते हैं वे

न उजाला कर पाते हैं वे
न अँधेरा हर पाते हैं वे

11-6-1986

जीने का नाम पर जीते हैं वे 'न जीना'

जीने के नाम पर जीते हैं वे 'न जीना'
'न जीना' उनका
जीने को जीने से मुख्तलिफ होता है

न इंसान होते हैं वे,
न इंसान की जमीन में होते हैं वे

खाते-पीते साँस लेते वे
हाड़-मांस को जीते हैं वे;
दुनिया के दिलिदर में फँसे होते हैं वे

न पहाड़ के पास पहुँचते हैं वे;
न ऊपर चढ़ते हैं वे,
न नीचे पड़े रहने से
आतंकित होते हैं वे

न तैरते हैं वे,
न नदी पार करते हैं वे
जहाँ देखो तहाँ
पाँव चाटते-
कुकुआते रहते हैं वे

मरे-मरे रहकर भी

न मरे होने की
बातें करते हैं वे

कोरी कल्पना से कवलित
जमीन के जंगल में
जीने का अभिमान करते हैं वे

13-6-1986

कुछ हैं

कुछ हैं
जो आदमी तो लगते हैं
नस्ल से—जिस्म से,
पर हैं नहीं वे आदमी
कर्म से—मर्म से—
दिल और दिमाग से—
रागानुराग से—
स्वर और स्वभाव से

कहूँ तो भला कैसे कहूँ उन्हें आदमी?

मात्र कह देने से मेरे
जो आदमी लगते हैं पर आदमी नहीं हैं
वे आदमी नहीं हो सकते

मात्र कह देने से मेरे
अगर आदमी हो सकते होते वे
तो कब का कह दिया होता मैंने उन्हें आदमी

देखा है मैंने उन्हें
जाना है मैंने उन्हें

कि बावजूद वैसा कहने के
आदमी लगते वे
आज तक
आदमी नहीं हुए

तभी तो वैज्ञानिक विकास के बावजूद
प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग के बावजूद
आदमी लगते आदमी
विकलांग सभ्यता और संस्कृति के
प्रसार में लगे हैं
फौजियों का वर्चस्व शासन-तन्त्र पर बनाये हुए
नाभकीय अस्त्रों की होड़ बढ़ाये हुए
नक्षत्र-युद्ध की तैयारी में लगे,
अमानवीय
आपराधिक प्रवृत्ति अपनाये हुए;
सत्य की अर्चना में नहीं—
असत्य की वेदना में
संसार का सर्वस्व दाँव पर लगाये हुए

आदमी लगते आदमी
महान मानवीय मूल्यों की अवमानना करते हैं,
आदर्श आदमी होने की अवहेलना करते हैं,
अंधकार के अभ्यस्त
प्रकाश-पुंज से हतप्रभ रहते हैं

घृणा करता हूँ मैं
आदमी लगते आदमियों से

विश्वास है मुझे
परिस्थितियाँ अवश्य बदलेंगी,
श्रमशील जनता अवश्य संघर्ष करेगी,
ध्वंस से संसार को बचायेगी,
तब आदमी लगते आदमी भी
आदमी बनेंगे,
तब यथार्थ का संसार
चेतना का श्रेष्ठ संसार बनेगा
प्रेम और सौन्दर्य का
जहाँ राज्य रहेगा

26/29-6-1986

हम नहीं जीते उनको

हम नहीं जीते उनको
जो नहीं जीते हमको,
देश के दुख-दर्द में,
मौज मारते जो
छल-छद्म में धँसे जो
वक्र-तुण्ड में फँसे जो
न इतिहास में हैं
न विकास में

9-9-1986

खेत और खेत हैं

खेत और खेत हैं
खाली पड़े-सूने पड़े खेत हैं
तापित पड़े-शापित पड़े खेत हैं
आकुल अकुलाते पड़े खेत हैं
चित्त पड़े खेत हैं
उतान पड़े खेत हैं
हारे पड़े खेत हैं
खेत और खेत हैं

आग और आग है
हारे पड़े खेतों में आग है
धुँआहीन आग है
चढ़ आये सूरज की
चोप चढ़ी आग है
आग की सफेदी है
दारुण दुख देती है

गुपचुप है-गुपचुप है
बहरा सन्नाटा है
गहरा सन्नाटा है
ठहरा सन्नाटा है

पेड़ और पेड़ हैं
खेतों में खड़े हुए पेड़ हैं
पेड़ों में पात और पात हैं
पातों से आग बहुत हारी है
अनहारी हँसती हरियारी है

6-6-1987

तुम टुइयाँ हो

तुम
टुइयाँ हो
भाग्यवान कुलवंती
वंश-वृक्ष पर बैठी
तुम
गाती हो
'टुविट टुविट टू-टुविट टुविट टू'

तुमको
सुनती है
कुलीन वृक्षों पर बैठीं
सभी तुम्हारी
गुइयाँ-
चतुर सयानी,
भ्रष्ट बुद्धि,
अभिमानी

दुखी भूमि
रोती अनजानी
सुनता कोई नहीं कहानी

9-8-1987

कहे न चाहे कोई भकुवा

कहे न चाहे कोई भकुवा
मैं तो कहता सत्य-सही हूँ
तू टुइयाँ है वंश-वृक्ष की
कुलवंती है बड़े नाम की

टहक-टहक तू-
चहक-चहक तू-
बहक-बहक तू, भाग्यवान तू
चोप-चाप से अब गाती है
'टुविट टुविट टू'
'टुविट टुविट टू',

तू यश पाती, प्रिय हो जाती;
गाना गाती, नहीं अघाती

तुझको सुनते कभी न थकते,
पास टहलते-दूर टहलते-
तरु पर चढ़ते और उतरते-
मौका मिलते रंग बदलते,
मौज मनाते
गिरगिट राजा

बड़े अदब से तेरे आगे
झुक-झुक जाते
पूँछ हिलाते
तुझे रिझाते बलि-बलि जाते

10-8-1987

जब-जब

जब जब
वह
जहाँ
अकेले में मिला
पेठ खलाये-
मुँह लटकाये
जग और जीवन को
गरियाते मिला
न कभी
हँसते मिला,
न खिलखिलाते मिला

लेकिन
जब वही व्यक्ति
आफिस में मिला-
तोंद को फुलाये
और वरदी को चढ़ाये मिला,
मिलने आये व्यक्ति से,
पेशी के रुपये उगाहते मिला

14-8-1987

शेर के मुँह में

शेर के मुँह में
जैसे
शिकार जाता है,
बाहर से भीतर आदमी कमरे में जाता है

शिकार बस एक बार जाता है—
लौट नहीं पाता है

कमरे में गया आदमी
लौट लौट आता है;
पुनर्जन्म पाता है,
लौट लौट जाता है

न बाहर मरता है
न भीतर मरता है;
आज का आदमी
मौत का मातम
बिना मरे—
दिन-रात मनाता है,

21-8-1987

कुछ नहीं कर रहा वह

कुछ नहीं कर रहा वह,
न तन से
न मन से;
खाली पड़े मकान-सा
खाली पड़ा वह

न दिल में है—
न दिमाग में
न चरित और चाल में है वह

न चींटियाँ चलती हैं उसके जीने की
न शेर दहाड़ते हैं उसके जंगल में
न सिर
उठाये खड़ा है पहाड़
उसके अस्तित्व का
न घंटे घनघनाते हैं उसके हाथ

देह है—
पर आदमी नहीं है
उसकी देह में

न जिन्दगी उसने जी है—न पायी है,
उम्र उसने
मरे-मरे बितायी है

न देश बदला है, उसे
बदलने के लिए;
न वह बदला है,
देश बदलने के लिए

16-9-1987

तब देखा था

तब देखा था
जो देखा था
गाये,
सुने,
बखाने का
बिम्बन देखा था

वह भाया था
अन्तर्मन में वह छाया था
मैंने चाहा—
उसे सराहा—
मानव-मूल्यों से अवगाहा—
थाहा—
मैंने प्रेरक पाया था

वह बिम्बन तो वहीं रहा
मूल व्यवस्था वहीं रही

अब सुनता हूँ;
आम आदमी जकड़ गया है
कटु यथार्थ से मसल गया है
मर्माहत है जन का जीवन

टूट रहे हैं सोचे सपने
छूट रहे हैं साथी अपने

इसीलिये अब बिजली चमकी,
लोकपक्ष जी उठा-
होश में आया
भूल-भटक-भ्रम का अवरोधन
थरथर काँपा

दोष-दहन से दहकी धरती
शान्ति-यज्ञ कर रही वेग से,
चेतन तेज
मिला बिम्बन को
सत्य-समर्पित
परिवर्तन की क्रिया चली अब
दारुण दुख से मुक्ति मिलेगी-जकड़न टूटेगी
जनता
पुनः अजेय बनेगी

10-11-1987

चलती है

चलती है
घड़ी की नब्ज
समय के चेहरे पर चार बजाये

न सुबह आयी,
न रात ने पीठ दिखायी!

दर्द में डूबा
खड़ा है 'विजय' अस्पताल,
अजेय जिन्दगी का दावेदार,
आह्लाद का
आश्लेष¹ पाने के लिए

25-11-1985

1. आलिंगन

हरेक जीता है यहाँ

हरेक
जीता है यहाँ—
'विजय' अस्पताल में—
अपने मर्ज का
मरीज सबेरा

तड़पता है
यहाँ
सागर—
सिर्फ सागर;
दिन हो
या रात,
मरीजों के मर्ज का मारा

नवम्बर, 1985

चार दिनों से

चार दिनों से
महानगर में बरस रहा है
बरबस पानी

चार दिनों से
महानगर की भीग रही है
कुंजर-काया

चार दिनों से
महानगर में मुक्त चमकती
धूप न निकली

चार दिनों से
महानगर में मची हुई है
किचकिच-पिचपिच

पर चालू हैं
महानगर में उसी तरह से
मोटर, रिक्सा

लोगबाग हैं
बाजारों में उसी तरह से
सौदा लेते

बच्चे गन्ने
चूस रहे हैं, नाच रहे हैं
सुख के मारे

14-1-1986

मैंने देखा

मैंने देखा;
बुरा हाल है महानगर का!—
महक उठी दुर्गन्ध लपेटे
बासी भाजी-सी आबादी;
कोई फर्क न आया उसके
धर्म कर्म की
चक्र-चाल में

लुढ़क रहे हैं
यहाँ वहाँ
सब आम आदमी—
टूटी माला की गुरियों-से
बिखरे-बिखरे मान गँवाये
धरती-माँ को दुखी बनाये

मैं हो गया उदास
हतप्रभ रोया
ग्लानि-गर्त में खोया

महानगर
असमर्थ खड़ा है
मैंने ऐसा देखा

15-1-1986

‘रात’ है

‘रात’ है
उसकी उतारी लिबास;
जो गयी है कहीं
देह की भूख मिटाने

आने के इन्तजार में
बेहोश पड़ा है
घर का अँधेरा

14-5-1986

तुम हो

तुम हो
एक मौन
लावण्य में लीन
लावण्य से उद्भूत;
स्वर और व्यंजनों का
अभूतपूर्व संगम

तुम हो
रूपोल्लास
वाक्मुखी आतुरता की
अददासित¹ अवहेलना;
निसर्ग की
निरुपम सर्जना

धीर है
तुम्हारे शरीर का

¹. 'सोवियत थियेटर' पत्रिका 1985 के प्रथम अंक के कवर के चौथे पृष्ठ की ELNA PROKLOVA की फोटो देखकर

1. 'अर्जदाशत' का हिन्दी रूप—निवेदन के साथ सविनय भेंट देना।

अधीर आकर्षण,
अनालापित देता
दुर्लभ आमन्त्रण

11-8-1986

अपना भारत एक है

अपना भारत एक है !
महादेश यह एक है !!

इसके वासी—
उत्तर-दक्खिन-पूरब-पच्छिम के अधिवासी—
जाति-जाति के,
वर्ण-वर्ण के,
धर्म-धर्म के ये विश्वासी
बहुभाषी ये
वैभव-विद्या-बुद्धि-विलासी,
सुख-सम्पत्ति के ये अभिलाषी,
महादेश की महादेश के महाप्राण हैं;
ये अविनाशी एक हैं,
जन्म-मरण-जीवन-यापन की
गतिविधियों के संचालन में—
दायित्वों के निर्वाहन में
लगे हुए सविवेक हैं

कदम-कदम पर
प्रतिभा-पौरुष बिम्बित करते-
आशा से उन्मेषित रहते-
श्रम करते-
उत्पादन करते-
मानव के मानी मानस की-
काव्य-कला की
छवियाँ चित्रित करते

ये अनुरागी-
राग-रंग के ये बड़भागी-
मोद-मत्त हो,
कंठ-स्वर से-
अपने स्वर के समारोह से
लौकिक और अलौकिक ध्वनियाँ गुंजित करते,
व्यथा-बोध को खंडित करते,
महादेश को जागृत-जीवित रखते,
इसीलिए तो
अपना भारत एक है!
इसके जन-गण एक हैं!!

अपना भारत अक्षय-वट है-
व्यापक और विशाल है,
इसका मूलाधार
यहाँ की उर्वर महिमा-माटी है;

प्रान्त-प्रान्त में इसके उन्नत तने तने हैं,
मेरुदण्ड से इसके वासी
पूर्ण प्रतिष्ठित अडिग खड़े हैं;
'अक्षय-वट' के
सिर पर सुन्दर शाखाओं का छत्र है;
धूप-प्रदीपित-
पवन-प्रकम्पित पत्र-पत्र है,
षट्ऋतुओं के षट् दर्शन का इसे ज्ञान है;
सत्य-अहिंसा से आवेष्टित
महावृक्ष का वल्कल वस्त्र-विधान है;
हिंसा-द्वेष-घृणा को परिहर-
प्रेम-प्रीति के गुंजित करता गान है;

भाँति-भाँति के रूप-रंग के खग-वृन्दों का
परम सुरक्षित नीड़ है;
परजीवी पशुओं की आने पाती यहाँ न भीड़ है;
जल-धाराएँ तो अनेक हैं
लेकिन पानी एक है!
परम प्रहर्षित
पानी वाला
अपना भारत देश है!

कालजयी है इसका पानी
कालजयी हैं इस पानी के पीने वाले प्राणी!

मैं

अभिनन्दन करता अपने महादेश का—

अपने भारत देश का—

मूर्तिमान राष्ट्रीय एकता के

उन्नत मस्तक

प्यारे भारत देश का!!

7-1-1987

ऐसा सोया

ऐसा सोया
जैसे सोयी
आग राख में

फिर भी वह सोया इंसान
चढ़ा चार कंधों के ऊपर
चला आठ पैरों के बल पर
अपनी सोयी आग जगाने
अब मसान में

13-2-1987

बँधे

बँधे
बेधक बोध वाले—
कुच-कलश,
—पय से भरे जो,
माँ पिलातीं दूध जिनसे पुत्र को,
वे नहीं
फल वासना के;
मले—
मसले जिन्हें
कोई अंधकामी,
और
रमणी के रमण में डूब जाये,—
रहे डूबा—
नहीं उबरे—
लोक-जीवन को बिसारे

17-2-1987

पंद्रहियों से ललकता

पंद्रहियों से ललकता,
पानी के लिए
दिन-रात तड़पता,
परम पीड़ित पस्त है
महानगर मदरास,
थपाथप थपथपाती
लहरों का किलोल भोगता

26-7-1987

डूब गया मैं तुममें पूरा

डूब गया मैं तुममें पूरा
तुम भी मुझमें पूरा डूबो

डूबे रहकर
मैं तो कभी न ऊबा,
डूबे रहकर तुम भी कभी न ऊबो

डूबे रहने का मतलब है;
समझ-बूझकर जीना-
मन को मथकर जीना-
सत् से सधकर जीना-
तम का बधकर जीना-

भीतर से भी-
बाहर से भी जीना-
बाह्य-बोध को
आत्म-बोध से जीना-

जड़ को चेतन
भाव-बोध से जीना-
रंग-रूप की
रचना करते जीना-
मरते दम तक
पर दुख हरते जीना

14-8-1987

जवान क्या हुई गरीबदास की बिटिया

जवान क्या हुई गरीबदास की बिटिया
बाढ़ आ गई जैसे
मटियार नदी में रातों रात
हुलास से हुमसे
हरहराते
मोतियार पानी की

तोड़ दिये उसने
निरंकुश उमड़े
हिल्लोल और कल्लोल से,
प्राणघाती तट-बंध-

छाप लिया उसने, प्यार के प्यासे-
आम और जामुन के पेड़ों को,
कमर की ऊँचाई तक

28-7-1987

प्रेम ने छुआ

प्रेम ने छुआ
जानवर से आदमी हुआ
पथराया दिल
कुमुद हुआ

सूर्य की आग
वरदानी हुई
भूमि की देह धानी हुई

13-9-1987

केदारनाथ अग्रवाल
का रचना संसार

